

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

द्वितीयवर्ष] [अक ११

स्याद्वादमञ्जरी

(प्रथमखण्ड)

प्रकाशक–मुम्बापुरीस्थश्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डल

विज्ञापन।

विदित हो कि स्वर्गवासी तत्त्वज्ञाता शतावधानी कविवर श्रीरायचन्द्रजीने तत्त्वज्ञानपरिपूर्ण अतिशय उपयोगी और अलभ्य ऐसे श्रीउमास्वाति, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीहरिभद्रसूरी आदि आचार्योंके रचे हुए महान् शास्त्रोंका सर्वसाधारणमें प्रचार करनेके लिये श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलकी स्थापना की थी. जिसके द्वारा आज दो वर्षसे **रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला** नामक द्विमासिक पुस्तक प्रकट होकर तत्त्वज्ञानाभिलाषी भव्यजीवोंको आनंदित कर रहा है।

इस शास्त्रमाला द्वारा प्रत्येक वर्षमें मूल और हिन्दी भाषानुवाद सहित १००० पृष्ठ ग्राहकोंके पास भेजे जाते हैं। जिनमें अनुमान ५०० पृष्ठ श्वेताम्बर संप्रदायके और ५०० पृष्ठ ही दिगम्बर संप्रदायके शास्त्ररत्नोंके होते है। यह योजना दोनों संप्रदायोंके अभिप्राय विदित होनेके लिये ही की गई है। अग्रिम वार्षिक निछरावल डाकव्यय सहित ६।।।) है। जो महाशय पांच ग्राहक बनाकर भेजते हैं उनको पांचके मूल्यमें ६ पुस्तक दिये जाते है। इस लिये आत्मकल्याणके इच्छक भव्यजीवोंसे प्रार्थना है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्राहक बनकर अपनी चल लक्ष्मीको अचल करैं और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्तोंका पठन-पाठनद्वारा प्रचारकर हमारी इस परमार्थयोजनाके परिश्रमको सफल करैं। प्रत्येक सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालामें इसका संग्रह अवश्यमेव करना चाहिये।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित पुस्तकें.

सं.	नाम	रु. आ.
१	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय.	१—४
२	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य.	२—०
३	पंचास्तिकाय.	१—८
४	सप्तभंगितरंगिणी.	१—०
५	द्रव्यानुयोगतर्कणा.	२—०
६	ज्ञानार्णव.	४—०
७	बृहद्द्रव्यसंग्रह.	२—०
८	स्याद्वादमंजरी.(छप रही है)	४—०

अन्य गुजराती भाषाकी पुस्तकें.

सं.	नाम	रु. आ.
१	श्रीमद्राजचंद्र.	७—०
२	मोक्षमाला.	०—१२
३	भावनाबोध.	०—४
४	रायचंद्रकाव्य.	०—३

पूर्वोक्त सब पुस्तकोंके **मिलनेका पत्ता**—श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल जोंहरीबजार **बंबई.**

स्मारकलेखके लिये योजना।

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलके प्रबन्धकर्त्ताओंने प्रत्येक शास्त्रके साथ स्मारकलेख लगानेकी भी योजना की है इस लिये जो महाशय अपने अथवा किसी सज्जनके स्मरणार्थ कोईसे भी शास्त्रके साथ स्मारकलेख लगाना चाहेंगे तो लगादिया जावेगा परंतु इसके बदलेमें उनको परमश्रुतप्रभावकमण्डलमें उचित द्रव्यसे सहायता देनी पड़ेगी। आशा है कि भव्यजीव इस योजनामें द्रव्य प्रदानकर स्वार्थ और परमार्थरूप दोनों फलोंके भागी होंगे।

उक्त योजनानुसार निम्नलिखित महाशयोंने निम्नलिखित शास्त्रोंमें स्मरणलेख लगाकर उदारता और गुणग्राहिताका परिचय दिया है।

श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवन जी, श्रीअमृतचन्द्रसूरी विरचित	पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें	२००)
श्रीयुत माणकचंदजी हीराचंदजी जौहरी जे पी, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचित	पंचास्तिकायसमयसारमें	३५०)
श्रीयुत स्वर्गवासी जेठाभाई दामजी, श्रीभोजसागरविरचित	द्रव्यानुयोगतर्कणामें	३५०)
श्रीयुत नरशीभाई तेजसी, श्रीउमास्वातिविरचित	सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें	२५०)
श्रीयुत रायचन्द्रजी रतनशी, श्रीनेमिचन्द्रविरचित	बृहद्द्रव्यसंग्रहमें	२००)

निम्नलिखित महाशयोंने निम्नलिखित ग्रन्थोंमें स्मरणलेख देना स्वीकार किया है

श्रीयुत रतनजी वीरजी, श्रीमल्लिषेणसूरिविरचित	स्याद्वादमंजरीमें	पिताके स्मरणार्थ	८००)
श्रीयुत " " श्रीहरिभद्रसूरिविरचित	योगदृष्टिसमुच्चयमें	माताके स्मरणार्थ	२००)
श्रीयुत त्रिभुवनदास भाणजी, श्रीरत्नशेखरसूरिविरचित	गुणस्थानक्रमारोहणमें	"	३००)

सूचना—हमारे यहासे जो यह रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला निकलती है, वह किसीके स्वार्थसे नहीं निकलती है, किन्तु श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलने इसको परमार्थबुद्धिसे प्रकट की है। जो द्रव्य आता है वह परमश्रुत (ज्ञान) खातेमें जमा किया जाता है। वर्त्तमानमें इस खातेमें शास्त्रोद्धारार्थ लगभग १२०००) के जमा हैं।

आवश्यक सूचना.

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके अंकोंको देखकर बहुतसे मुनिमहाराजों, विद्वानों और ग्रेजूएटोंने समय समयपर प्रशंसापत्र भेजे हैं। और सज्जनोंको ग्राहक बननेकी प्रेरणायें की हैं। जिनको हम यहां स्थानाभावसे प्रकट नहीं करते है।

मुनिमहाराजों और सज्जन विद्वज्जनोंसे प्रार्थना है कि जिन ग्रथोंका भाषानुवाद कराके छपानेसे जैनसमाजको विशेषलाभ होनेकी संभावना हो, उन ग्रन्थोके नाम और पतेसे हमको सूचित करै तथा आजतक इस शास्त्रमालाद्वारा जो ग्रन्थ प्रकट हुए है उनमें जो त्रुटियें हों उनसे भी सूचित करै जिससे कि उन त्रुटियोंको दूर करनेके लिये आगामी कालमें यथाशक्य प्रयत्न किया जावे। और अग्रिम वर्षमें जिन २ शास्त्रोंका प्रकट करना अत्यावश्यक है उनके विषयमें भी विचारपूर्वक संमति प्रदान करें।

श्रीयुत शेठ रतनजी वीरजी भावनगरवालोंकी ऐसी सूचना आई कि, यदि स्याद्वादमञ्जरी शास्त्राकार खुले पत्रोंमें छपाई जावेगी तो मुनिमहाराजोंको विशेष अनुकूल पड़ेगी। तदनुसार ही हमने अबकी वार इसको शास्त्राकार खुले पत्रोंमें पुष्ट व सचिक्कण कागजमें छपाकर पुट्ठे तथा स्वदेशीवस्त्रके वेष्टन (वेठण) सहित ग्राहकोंकी सेवामें भेजी है। और यह स्याद्वादमंजरी न्यायविषयका अत्युत्तम तथा कठिन ग्रंथ है; अतः इसको विचारपूर्वक धीरे २ छपाने आदि कितन ही विशेष कारणोंसे इस ११ वें अंकके भेजनेमें अत्यंत विलम्ब होगया है; सो ग्राहकमहाशय ग्रंथकी उत्तमतापर ध्यान देकर विलम्बजनित अपराधको क्षमाकरें और आगामी १२ वे अकमें स्याद्वादमजरीके शेषभागको (जो कि प्रायः इस अंकसे दूना बडा होगा) एक ही वारमें भेजकर रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके द्वितीयवर्षको पूर्ण करनेका विचार है; इसकारण ग्राहकगण आगामी कालमें जो विलम्ब हो; उसको भी निष्प्रयोजन न समझकर धैर्यको धारण करें; यह प्रार्थना है।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालासम्बन्धी सर्वप्रकारके पत्रव्यवहार करनेका पत्ता—

शा. रेवाशंकर जगजीवन जोंहरी.

आनरेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल. जोंहरी बाजार—बम्बई.

ओं यथार्थवादिने श्रीवर्द्धमानाय नमः ।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालायां–

श्रीमल्लिषेणसूरिप्रणीता

स्याद्वादमञ्जरी

श्रीजवाहरलालशास्त्रिविनिर्मितहिन्दीभाषानुवादसहिता

(अनुवादकस्य मङ्गलाचरणम् ।)

यस्य श्रीमुखभूरुहात्समुदिता स्याद्वादगन्धान्वितां
सज्ज्ञानाम्रफलप्रदा मुनिपिका आस्वाद्य वाङ्मञ्जरीम् ।
ऊचुर्यन्मधुरं जनास्तदखिलं श्रुत्वात्र मिथ्यादृशां
काकानां विरसं जहु प्रलपनं तं सन्मतिं नौम्यहम् ॥ १ ॥
श्रीहेमचन्द्रयतिभिर्निजबुद्धिबीजादुत्पादिता स्तुतिलतातपवारिणी या ॥
संवर्द्ध्य युक्तिसलिलैर्मुनिमल्लिषेण स्याद्वादमञ्जरियुतां किल तां चकार ॥ २ ॥
गीर्वाणगीर्नयनहीनजनान्विलोक्य तल्लाभतो विरहितानतिखिन्नचित्त ॥

तेभ्योऽहमार्यजनवाक्पवनेन तस्या गन्धं तनोमि निजबुद्ध्यनुरूपमत्र ॥ ३ ॥

(ग्रन्थकर्तुर्मङ्गलाचरणम्)

यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै-
  र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिपत्क्षिप्ता क्षणाद्येन सा
  स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम ॥ १ ॥
निस्सीमप्रतिभैकजीवितधरौ निःशेषभूमिस्पृशां
  पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू स्वाङ्गैकरूपे दधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयन्निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे
  सद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥ २ ॥
ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थसेवामिषतः श्रयन्ते ।
सम्प्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां पदं कलानामुचितं भजन्ति ॥ ३ ॥
मातर्भारति सन्निधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते-
  र्निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसम्भावना ।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरति यत्सारस्वतः शाश्वतो
  मन्त्रः श्रीउदयप्रभेतिरचनारम्यो ममाहर्निशम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—अनन्तवस्तुविषय अर्थात् अपरिमित पदार्थोंको विषय करनेवाला जिनका ज्ञान है, जो देवोंकरके नित्य पूजे जाते हैं, जिनका वचन खोटे नयवालों अर्थात् अन्यमतावलम्बियों द्वारा किये हुए कोलाहलोंसे लुप्त (नष्ट) नहीं होता तथा जिन्होंने उस राग और द्वेष

(१) बुद्धिं नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभा विदुः ।

है आदिमें जिसने ऐसी वैरियोंकी मण्डलीको क्षणमात्रमें परास्त की अर्थात् जीती वे श्रीवर्द्धमानस्वामी मेरी बुद्धिको निर्मल करें ॥१॥

समस्त मध्यलोकवर्ती जीवोंके पुण्यके समूहकी प्रेरणासे अपार प्रतिभा (नये नये चमत्कारोंको उत्पन्न करनेवाली बुद्धि) रूप प्राणोंके धारक सरस्वती और बृहस्पतिजीको अपने शरीरसे अभिन्नरूपमें धारण करते हुए जिन्होंने निज शरीररूप दृष्टान्तसे स्याद्वादमतको सिद्ध किया अर्थात् जैसे मेरा शरीर परस्पर भिन्न ऐसे सरस्वती और बृहस्पतिको एक रूपतासे धारण करता है, उसी प्रकार समस्त पदार्थ परस्पर भिन्न अनेक धर्मोंके धारक है, ऐसे अपने शरीरसे सूचित किया, वे श्रीहेमचन्द्रस्वामी मेरे सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रकी वृद्धिके अर्थ होवें ॥ २ ॥

जो मनुष्य श्रीहेमचन्द्र मुनीन्द्रको इनके (श्रीहेमचन्द्रजीके) द्वारा कहे हुए शास्त्रोंके अर्थकी सेवाके बहानेसे सेवन करते है, वे जगत्में निर्मल श्लाओंके गौरवको (बडप्पनको) प्राप्त हो करके योग्य पदको प्राप्त होते है। **भावार्थ**—जो श्रीहेमचन्द्रजी सूरीश्वरकी सेवा करते है, वे महाबुद्धिमान् होकर सुगतिको प्राप्त होते है ॥ ३ ॥

हे सरस्वती माताजी ! आप मेरे हृदयमें विराजमान हूजिये, जिससे सर्वज्ञकी स्तुतिपर विवृति (व्याख्या) रचनेके अर्थ जो प्रारंभ करनेकी संभावना है, वह शीघ्र ही सिद्ध होवे अर्थात् शीघ्र ही स्याद्वादमंजरीको रचनेका प्रारंभ कर दूं । अथवा नहीं नहीं मै भूल गया क्योंकि, मेरे होठोंके मध्यमें रात्रिदिन “ श्रीउदयप्रभ ” इन अक्षरोंकी रचनासे मनोहर गुरुका नामरूपी अनादि अभिन्न सारस्वतमंत्र तो फुर ही रहा है। **भावार्थ**—गुरुके स्मरणके प्रभावसे आप स्वयं मेरे हृदयमें विराजमान हो जायगे । अतः आपसे प्रार्थना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ४ ॥

(अवतरणिका)

इह हि विषमदुःषमाररजनितिरस्कारभास्करानुकारिणा वसुधातलावतीर्णसुधासारिणीदेश्यदेशनावितानपरमार्हतीकृतश्रीकुमारपालक्ष्मापालप्रवर्त्तिताभयदानाभिधानजीवातुसंजीवितनानाजीवप्रदत्ताशीर्वादमाहात्म्यकल्पाऽवधिस्थायिविशदयशःशरीरेण निरवद्यचातुर्विद्यनिर्माणैकब्रह्मणा श्रीहेमचन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसेनदिवा-

(१) ख पुस्तके 'स्वरीकृत' इति पाठ । २ लक्षणागमसाहित्यतर्कोश्चातुर्विद्यम् ।

करविरचितद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकानुसारि श्रीवर्द्धमानजिनस्तुतिरूपमयोगव्यवच्छेदाऽन्ययोगव्यवच्छेदाऽभिधानं द्वात्रिंशिकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वाऽवबोधनिबन्धनं विदधे। तत्र च प्रथमद्वात्रिंशिकायाः सुखोन्नेयत्वाद्व्याख्यानमुपेक्ष्य द्वितीयस्यास्तस्या निःशेषदुर्वादिपरिषदधिक्षेपदक्षायाः कतिपयपदार्थविवरणकरणेन स्वस्मृतिबीजप्रबोधविधिर्विधीयते। तस्याश्चेदमादिकाव्यम् ॥—

अवतरणिका।

इस लोकमें भयंकर पञ्चमकालरूपी रात्रिको दूर करनेके लिये सूर्य समान तथा स्वर्गसे पृथ्वीतलमे उतर कर आई हुई जो अमृतकी नहर उस जैसा जो उपदेशोंका समूह उसके द्वारा परम जैनी किया हुआ जो श्रीकुमारपाल महाराज उसकरके प्रवर्त्ताया हुआ जो अभयदान नामक जीवनौषधि उससे जीवनको प्राप्त हुए जो बहुतसे जीव उन करके दिये हुए जो आशीर्वाद उनके प्रभावसे कल्पकालपर्यन्त रहने वाला है निर्मल यशरूपी शरीर जिनका ऐसे, और दोषरहित जो व्याकरण, आगम, साहित्य और तर्क (न्याय) नामक चार विद्या है, उनको रचनेके लिये ब्रह्माके समान ऐसे, श्रीहेमचन्द्रजी सूरीने जगत्प्रसिद्ध श्रीसिद्धसेनजी दिवाकरकी बनाई हुई 'द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका' का अनुसरण करके श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्रकी स्तुतिरूप और ज्ञानी जनोंके मनमें तत्त्वज्ञान उत्पन्न करनेको कारणभूत ऐसे अयोगव्यवच्छेद तथा अन्ययोगव्यवच्छेद नामके धारक द्वात्रिंशिकायुगलको किया। भावार्थ—'श्री जिनेन्द्र यथार्थवादी ही है' इस प्रकार जहांपर विशेषणके साथ एव (ही) पद लगाया जावे वह तो अयोगव्यवच्छेद है, और 'श्रीजिनेन्द्र ही यथार्थवादी है' इस प्रकारसे जहां विशेष्यके साथ 'एव' लगाया जावे वह अन्ययोगव्यवच्छेद है। उनमें पहली जो अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका है वह सुखसे समझमें आनेवाली है; इसलिये उसके व्याख्यानको उपेक्षित करके अर्थात् न करके, समस्त एकान्तवादियोंकी सभाका खंडन करनेमें समर्थ जो वह दूसरी अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका है, उसके कितने ही पदार्थोंका विस्तारसे वर्णन करके मैं (मल्लिषेण) मेरा जो स्मृति (धारणा) रूप बीज है उसके उदयका विधान करता हूं। और उस अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तोत्रका प्रथम काव्य यह है—

---

१ विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः यथा—शङ्खः पाण्डुर एवेति। अयोगव्यवच्छेदस्य लक्षणं चोद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम्। २ विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः यथा—पार्थ एव धनुर्धरः। अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदः।

अनन्तविज्ञानमतीतदोपमवाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्य स्वयम्भुव स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १॥

काव्यार्थ —अनन्तज्ञानके धारक, दोपोंसे रहित, बाधारहित सिद्धान्तवाले, देवोंकरके पूज्य, यथार्थवक्ताओंमें प्रधान और स्वयमेव ज्ञानको प्राप्त हुए ऐसे श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रकी स्तुति करनेके लिये मैं प्रयत्न करूगा ॥ १ ॥

व्याख्या। श्रीवर्द्धमान जिनमह स्तोतु यतिष्य इति क्रियासबन्ध । किंविशिष्टमनन्तमप्रतिपाति वि-विशिष्ट सर्वद्रव्यपर्यायविपयत्वेनोत्कृष्ट ज्ञान केवलाख्य विज्ञान ततोऽनन्त विज्ञान यस्य सोऽनन्तविज्ञानस्तम् । तथा अतीतानि सत्ताकीभूतत्वेनाऽतिक्रान्ता दोपा रागादयो यस्मात्स तथा तम् । तथा अवाध्य परैर्वाधितुमशक्य सिद्धान्त स्याद्वादश्रुतलक्षणो यस्य स तथा तम् । अमर्त्या देवास्तेपामपि पूज्यमाराध्यम् ॥

व्यारयार्थ.—' मै (हेमचन्द्र सूरी) श्रीवर्धमानजिनेन्द्रको स्तुतिगोचर करनेके लिये प्रयत्न करूगा ' इस प्रकार क्रियाका सम्बन्ध अर्थात् अन्वय हे। केसे विशेपणोंके धारक श्रीवर्द्धमानजिनको स्तुतिगोचर करनेके लिये यत्न करूगा ? अनन्त अन्तरहित अर्थात् पतन(नाश) स्वभावसे रहित और विशिष्ट अर्थात् जीव अजीव आदि समस्त द्रव्य और उनके स्वभाव विभाव रूप भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालसबन्धी जो अनन्त पर्याय है उनको विपयकरनेसे (जाननेसे) उत्कृष्ट ऐसा ज्ञान अर्थात् केवलनामक ज्ञान हे जिनके उनको तथा अतीत अर्थात् जिनकी फिर कभी उत्पत्ति न हो ऐसे रूपसे दूर होगये हे राग, द्वेप आदि अठारह दोप जिनसे उनको ओर अवाध्य अर्थात् अन्य एकान्तवादियोंसे नहीं बाधा जा सकता हे स्याद्वादशास्त्ररूप सिद्धान्त जिनका उनको तथा अमर्त्य जो देव उनके भी पूज्य अर्थात् आराधने योग्य है उनको। भावार्थ–मे (हेमचन्द्रसूरी) केवलज्ञानके धारक, दोपोंसे रहित, बाधारहितशास्त्रवाले और देवोसे पूज्य ऐसे श्रीमहावीरस्वामीको स्तुतिमें लानेके लिये उद्यम करूगा ॥

अत्र च श्रीवर्द्धमानस्वामिनो विशेपणद्वारेण चत्वारो मूलातिशया प्रतिपादिता । तत्राऽनन्तविज्ञानमित्यनेन

भगवतः केवलज्ञानलक्षणविशिष्टज्ञानाऽनन्त्यप्रतिपादनाज्ज्ञानाऽतिशयः । अतीतदोषमित्यनेनाऽष्टादशदोषसंक्षयाऽभिधानादपायापगमाऽतिशयः । अबाध्यसिद्धान्तमित्यनेन कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाऽशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनभणनाद्वचनाऽतिशयः । अमर्त्यपूज्यमित्यनेनाऽकृत्रिमभक्तिभरनिर्भरसुराऽसुरनिकायनायकनिर्मितमहाप्रातिहार्यसपर्यापरिज्ञापनात्पूजाऽतिशयः ॥

इस श्लोकके पूर्वार्धमें आचार्यने विशेषणों द्वारा श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रके चार मूल अतिशयोंका कथन किया है। उनमें 'अनन्त विज्ञान' यह जो विशेषण है इससे भगवान्के केवलज्ञानरूप लक्षणके धारक ज्ञानकी अनन्तता कही गई है, इस कारण पहिला ज्ञानातिशय कहा गया। और 'अतीतदोष' इस विशेषणसे अठारह दोषोंका नाश कहे जानेसे भगवान्के दूसरा अपायापगम नामक अतिशय कहा गया ॥ १ ॥ तथा 'अबाध्यसिद्धान्त' इस विशेषण द्वारा अन्य कुमतावलम्बियोंकरके दिये हुए जो बुरे हेतु उनके समूहसे वाधाको प्राप्त नहीं हो सकनेवाले स्याद्वादस्वरूप आगमको भगवानने रचा है इस प्रकारके अर्थको कहनेसे तीसरा वचनातिशय सूचित किया ॥ ३ ॥ एव 'अमर्त्यपूज्य' इस विशेषणसे सच्ची भक्तिके भारसे निर्भर अर्थात् अन्तरंगसे उत्पन्न हुई जो भक्ति है उसके बोझेसे दबे हुए (नीचे हुए) ऐसे जो देव तथा असुरोंके समूह उनके जो स्वामी (इन्द्र) उन करके की हुई जो महाप्रातिहार्य पूजा उसको जनानेसे चौथे पूजातिशयको कहा ॥ ४ ॥

अत्राह परः। अनन्तविज्ञानमित्येतावदेवास्तु नाऽतीतदोषमिति गतार्थत्वात्। दोषाऽत्ययं विनाऽनन्तविज्ञानत्वस्यानुपपत्तेः। अत्रोच्यते—कुनयमताऽनुसारिपरिकल्पिताप्तव्यवच्छेदार्थमिदम्। तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः—"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्त्तारः परमं पदम्। गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः।१।" इति। तन्नूनं न ते अतीतदोषाः। कथमन्यथा तेषां तीर्थनिकारदर्शनेऽपि भवावतारः ॥

---

१ अन्तरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः। हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥ १ ॥ कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा। रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥ २ ॥ इत्यष्टादश दोषाः। २ आजीविको नन्दः।

अब यहापर वादी शका करता हे कि, श्रीवर्द्धमानस्वामीके 'अनन्तविज्ञान' इतना ही विशेषण रहना चाहिये ओर 'अतीतदोष' यह विशेषण न रहना चाहिये । क्योंकि, अठारह दोषोंको नाश हुए विना अनन्तविज्ञानत्वकी प्राप्ति ही नहीं होती, इसकारण 'अनन्तविज्ञान' इसके कहनेसे ही दोषरहितरूप अर्थका ग्रहण हो जाता हे । इसका आचार्य 'समाधान' करते है कि, हमने जो 'अतीतदोष' यह विशेषण दिया हे सो व्यर्थ नहीं हे, किन्तु खोटे नयवाले मतके धारक जीवोंने जिस आप्त (यथार्थवक्ता) को मान रक्खा हे, उसको जुदा करनेके लिये हे । क्योंकि आजीविक (बोद्धविशेष) मतके धारक जीव इसी प्रकार कहते है कि " धर्मतीर्थके करनेवाले ज्ञानी जीव ससारमें आकर धर्मतीर्थका प्रचार करके मोक्षमें चले जाते हे ओर जब ससारमे धर्मतीर्थका अनादर होता है, तब फिर मोक्षमेंसे ससारमें आ जाते ह । १ । " इस प्रकार आजीविक मतवालोंके माने हुए आप्त निश्चयसे दोषरहित नहीं है । क्योंकि यदि वे दोषरहित होवें, तो तीर्थका अनादर देख करके भी मोक्षमेंसे ससारमे केसे आवे अर्थात् वे मोक्षमें जाकर फिर ससारमें आते ह, इसलिये दोषसहित ह ॥

आह । यद्येवमतीतदोषमित्येवाऽस्तु । अनन्तविज्ञानमित्यतिरिच्यते दोषाऽत्ययेऽवश्यभावित्वादनन्तविज्ञानत्वस्य । न । कैश्चिद्दोषाऽभावेऽपि तदनभ्युपगमात् । तथा च तद्वचनम्– "सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ॥ कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्यै न क्वोपयुज्यते ।१।" तथा– "तस्मादनुष्ठानगतं[3] ज्ञानमस्य विचार्यताम् । प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ।१।" तन्मतव्यपोहार्थमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव । विज्ञानानन्त्यं विना एकस्याऽप्यर्थस्य यथावत्परिज्ञानाऽभावात् । तथाचार्षं– " जे[4] एगं जाणइ से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।" तथा "एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ।१।॥

फिर वादी शका करता हे कि,—यदि आपने आजीवकमतवालोंके आप्तोंको दूर करनेके लिये अतीतदोष यह विशेषण दिया हे तो अतीतदोष यह विशेषण रहो परन्तु अब 'अनन्तविज्ञान' यह जो विशेषण हे सो अधिक होता हे अर्थात्

1 क-पुस्तके 'सर्वं पश्यतु मा वा मा इष्टमर्थं तु पश्यतु।" इति पाठ । 2 भवदभिमतस्य निरास्य। 3 अनुष्ठान नाम कालान्तरभावीष्टोपायताज्ञानपूर्वक करण । 4 य एव जानाति स सर्वं जानाति । य सर्व जानाति स एक जानाति। इतिच्छाया ।

ही होगा, फिर जुदा विशेषण
व्यर्थ है। क्योंकि जब भगवान् दोपरहित हो गये, तो उनके 'अनंतविज्ञान' अवश्य (जुरूर) ही होगा, फिर जुदा विशेषण
क्यों देते हो। समाधान–कितनोंहीने दोपोंका अभाव होने पर भी अनन्त विज्ञान नहीं माना है, इसलिये तुम्हारी शंका ठीक
नहीं। सो ही वे लोग कहते है कि "हमारा ईश्वर सब पदार्थोंको देखै अथवा न देखै; केवल वाछित तत्त्वोंको ही जानै।
क्योंकि यदि आपके जिनेश्वर कीड़ोंकी संख्या जानते है तो उनका यह कीडोंकी संख्या जाननेरूप ज्ञान हमारे किस प्रयोजनमे
आता है[2]। १। "तथा वे ही फिर कहते है कि "इसलिये हमारे ईश्वरके अनुष्ठानमें प्राप्त हुआ ज्ञान ही विचारना चाहिये।
और यदि जिसका ज्ञान उपयोगमें न आवै, ऐसे दूरदर्शीको ही आप प्रमाण मानते हो, तो लो हम गीध पक्षियोंकी सेवा करते
है। क्योंकि वे भी दूरके पदार्थको देखने वाले हैं। तात्पर्य यह कि–अनुपयोगी पदार्थोंको जानने वाले आपके जिनेन्द्रसे हमको
कोई भी प्रयोजन नही है॥ २॥" इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो कोई ईश्वरको असर्वज्ञ मानते है, उनके मतको दूर करनेके लिये जो हमने
'अनन्तविज्ञान' यह विशेषण दिया, सो दोपरहित ही है अर्थात् व्यर्थ नहीं है। क्योंकि अनन्तविज्ञानके विना एक भी पदार्थ यथार्थ
रीतिसे नही जाना जाता है। और इस कथनमें प्रमाणभूत ऋपियोंका वचन भी है कि "जो एकको जानता है, वह सबको
जानता है, जो सबको जानता है वह एकको जानता है" तथा "जिसने एक पदार्थको परिपूर्ण रीतिसे देखा, उसने सब
पदार्थ पूर्ण रूपसे देखे। और जिसने सब पदार्थ सर्वथा देखे, उसने एक पदार्थ सर्वथा देखा अर्थात् जाना॥ १॥"

ननु तर्हि अबाध्यसिद्धान्तमित्यपार्थकं[1] यथोक्तगुणयुक्तस्याऽव्यभिचारिवचनत्वेन तदुक्तसिद्धान्तस्य बाधाऽयोगात्। न। अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्। निर्दोपपुरुपप्रणीत एव अबाध्यः सिद्धान्तो नापरेऽपौरुपेयाद्या असम्भवादिदोपाघ्रातत्वात् इति ज्ञापनार्थं, आत्ममात्रतारकमूकाऽन्तकृत्केवल्यादिरूपमुण्डकेवलिनो यथोक्तसिद्धान्तप्रणयनाऽसमर्थस्य व्यवच्छेदार्थं वा विशेषणमेतत्॥

शंका—यदि ऐसा है तो 'अबाध्यसिद्धान्तवाले' यह जो भगवान्के विशेषण लगाया गया है सो निरर्थक है। क्योंकि, पूर्वोक्त जो अनंतविज्ञानता तथा दोपरहितता रूप दो गुण है, उन करके सहित जो कोई हैं उनके वचन व्यभिचारी नहीं

1 निरर्थक। 2 ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुट च। पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुपेयोऽयमिति प्रतीतिः।
3 बाह्यातिशयरहित।

होते अर्थात् किसी भी अगमें असत्य नहीं होते हे। इस कारण उन करके कहा हुआ जो सिद्धात हे, उसका खडन ही नहीं हो सकता है समाधान—तुमने हमारा अभिप्राय नहीं जाना, इसलिये यह जो तुम शका करते हो सो ठीक नहीं हे। क्योंकि हमने जो यह विशेषण दिया है, सो निर्दोष पुरुष करके कहा हुआ सिद्धात ही बाधारहित सिद्धात है और असभव आदि दोषोंसहित होनेसे अन्य जो अपौरुषेय आदि सिद्धान्त है, वे बाधारहित नहीं है। इस बातको विदित करनेके लिये लगाया हे। भावार्थ—कितने ही ऐसा मानते है कि, वेद आदि अपौरुषेय है अर्थात् किसी पुरुषके बनाये हुए नहीं हैं। परन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं है। क्योंकि वेद अक्षररूप है। और वे अक्षर तालु आदि स्थानोंसे उत्पन्न होते हे। तथा वे तालु आदि स्थान मनुष्यके होते हैं। इसलिये पुरुषके रचे विना वेद आदि अक्षररूप नहीं हो सकते है, यही असभव नामा दूषण हे। इसको आदि ले और भी अनेक दोष शास्त्रोंको अपौरुषेय माननेमें होते हैं। इस कारण 'निर्दोष पुरुषसे कहा हुआ शास्त्र ही बाधारहित है, पुरुष करके नहीं बनाये हुए शास्त्र बाधारहित नहीं है'। इस विषयको सूचित करनेके लिये 'अबाध्यसिद्धान्त' विशेषण हे। अथवा एक प्रकारके मूक अन्तकृत्केवली आदि रूप मुड अर्थात् बाह्यके अतिशयोंसे रहित केवली होते हे, जो अनन्तविज्ञानके धारक भी है और दोषरहित भी है। परन्तु वे केवल अपनी आत्माका ही उद्धार करते हे, दूसरेको उपदेश देनेमें मूक (गूगे) रहते हैं। इसलिये वे भी पूर्वोक्त सिद्धान्तको रचनेमें असमर्थ ह। इस कारण उनको श्रीजिनेन्द्रसे भिन्न करनेके लिये 'अबाध्यसिद्धान्त' यह विशेषण दिया गया हे॥

अन्यस्त्वाह। अमर्त्यपूज्यमिति न वाच्यम्। यावता यथोद्दिष्टगुणगरिष्ठस्य त्रिभुवनविभोरमर्त्यपूज्यत्व न कथचन व्यभिचरतीति। सत्यम्। लौकिकाना हि अमर्त्या एव पूज्यतया प्रसिद्धास्तेषामपि भगवानेव पूज्य इति विशेषणेनाऽनेन ज्ञापयन्नाचार्य परमेश्वरस्य देवाधिदेवत्वमावेदयति॥ एव पूर्वार्द्धे चत्वारोऽतिशया उक्ता।

अब दूसरा वादी शका करता है कि—'**अमर्त्यपूज्य**' यह विशेषण भगवानके नहीं देना चाहिये। क्योंकि, सपूर्णरूपसे पहिले कहे हुए अनतविज्ञान आदि गुणोंसे गरिष्ठ (बहुत बड़े) जो तीन लोकके स्वामी श्रीजिनेन्द्र हैं, उनके देवोंसे पूज्यता किसी प्रकारसे भी व्यभिचारको प्राप्त नहीं होती हे अर्थात् वे नियमसे देवोंकरके पूजे जाते है। **समाधान**—एक प्रकारसे तुम्हारा कहना सत्य

1 सामस्त्य।

है। परंतु जो लौकिक जन हैं वे देवोंको ही मुख्यतासे पूज्य मानते हैं। उन देवोंके भी भगवान ही पूज्य है, ऐसे आशयको इस विशेषणसे जनाते हुए आचार्य भगवानके देवाधिदेवपना सूचित करते हैं। इस प्रकार पूर्वार्धमें चार अतिशयोंका कथन किया गया है।

अनन्तविज्ञानत्वं च सामान्यकेवलिनामप्यवश्यंभावीत्यतस्तद्व्यवच्छेदाय श्रीवर्द्धमानमितिविशेष्यपदमपि विशेषणरूपतया व्याख्यायते। श्रिया चतुस्त्रिंशदतिशयसमृद्ध्यनुभवात्मकभावार्हन्त्यरूपया वर्द्धमानं वर्द्धिष्णुम्। नन्वतिशयानां परिमिततयैव सिद्धान्ते प्रसिद्धत्वात्कथं वर्द्धमानतोपपत्तिः। इतिचेन्न। यथा–निशीथचूर्णौ भगवतां श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्यबाह्यलक्षणसङ्ख्याया उपलक्षणत्वेनाऽन्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तमेवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम्। ततो नाऽतिशयश्रिया वर्द्धमानत्वं दोषाश्रय इति।

अब अनंतविज्ञानत्व जो है वह तो सामान्यकेवलियोंके भी नियमसे होता है। इसकारण उन सामान्यकेवलियोंको श्रीवर्धमानसे भी जुदे करनेके लिये 'श्रीवर्धमान' यह जो विशेष्यपद है, उसका भी विशेषणरूपतासे व्याख्यान करते हैं अर्थात् 'श्रीवर्धमान' इस विशेष्यको विशेषण मानकर कहते हैं। चौतीस ३४ अतिशयोंकी वृद्धिके अनुभवलक्षण भावअर्हतपनेरूप जो लक्ष्मी है, उसकरके वर्द्धमान अर्थात् बढ़ते हुए हैं उनको। शंका–शास्त्रमें अतिशय परिमितरूपसे ही प्रसिद्ध है अर्थात् चौतीस संख्याके धारक ही हैं। इसलिये 'अतिशयोंसे बढ़ते हुए' यह कहना किसप्रकार बन सकता है। समाधान–यह तुम्हारी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि, जैसे 'निशीथचूर्णी' नामक ग्रंथमें श्रीअर्हन्त भगवान्‌के एकहजार आठ संख्यापरिमाण जो बाह्य लक्षण हैं, उनकी संख्याको उपलक्षणरूप मानकर सत्त्व आदि अन्तरंग लक्षणोंको अनन्त कहे हैं, इसीप्रकार यद्यपि उपलक्षणसे शास्त्रमें चौतीस अतिशय ही प्रसिद्ध हैं, तथापि उनको यदि संख्यारहित माने जावें तो शास्त्रसे कोई भी विरोध नहीं है। इसकारण 'अतिशय लक्ष्मीसे बढ़ते हुए' ऐसा विशेषण जो हमने कहा है, सो दोषका आधार नहीं है अर्थात् इसमें कोई भी दोष नहीं है॥

अतीतदोषता चोपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनामपि सम्भवतीत्यतः क्षीणमोहाख्याप्रतिपातिगुणस्थानप्राप्तिप्रतिपत्त्यर्थं जिनमितिविशेषणम्। रागादिजेतृत्वाज्जिनः। समूलकाषङ्कषितरागादिदोष इति। अबाध्यसिद्धान्तता

१ ख पुस्तके-सम्भविनीत्यतः। इति पाठः।

च श्रुतकेवल्यादिष्वपि दृश्यतेऽतस्तदपोहायाप्तमुख्यमिति विशेषणम् । आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च क्षय । सा येषामस्ति ते खल्वाप्ता । अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः । तेषु मध्ये मुखमिव सर्वाङ्गाना प्रधानत्वेन मुख्यम् । शाखादेर्य इति तुल्ये य । अमर्त्यपूज्यता च तथाविधगुरूपदेशपरिचर्यापर्याप्तविद्याचरणसपन्नाना सामान्यमुनीनामपि न दुर्घटा । अतस्तन्निराकरणाय स्वयम्भुवमितिविशेषणम् । स्वयमात्मनैव परोपदेशनिरपेक्षतयाऽवगततत्त्वो भवतीति स्वयम्भू स्वय सबुद्धः । तमेवविध चरमजिनेन्द्र स्तोतु स्तुतिविषयीकर्त्तुमह यतिष्ये यत्न करिष्यामि ।

ओर दोषरहितपना तो उपशान्तमोहनामक ग्यारहवें गुणस्थानमें रहनेवाले जो मुनि है, उनके भी हो सकता है। इसलिये पतन रहित क्षीणमोहनामक बारहवें गुणस्थानको श्रीजिनेन्द्र प्राप्त हो चुके, यह जनानेके लिये ' जिन ' यह विशेषण दिया हे। क्योंकि, राग आदि दोषोंको जो जीतनेवाले है अर्थात् जिन्होंने जडमूलसे राग आदि दोषोंको उखाड़ डाले है वे ही ' जिन ' कहलाते हे। तथा बाधारहित सिद्धान्तका धारकपना तो श्रुतकेवली आदिम भी देखा जाता हे। इसकारण उन श्रुतकेवली आदिको जुदे करनेके लिये 'आप्तमुख्य' यह विशेषण कहा गया हे। राग, द्वेष ओर मोह इनका जो एकान्तिक (सर्वथा) तथा आत्यन्तिक अर्थात् फिर उत्पन्न न हो, ऐसे रूपसे नाश है, उसको आप्ति कहते है, वह आप्ति जिनकेहोवे वे आप्त हे। उन आप्तोंमें जैसे शरीरके सब अगोंमें मुख प्रधान है, उसीप्रकार जो मुख्य (प्रधान) होवें, उनको 'आप्तमुख्य' कहते हे। [मुख्य यहापर मुखशब्दके आगे 'शाखादेर्य' इस सूत्रसे तुल्य (समान) अर्थमें य हुआ है।] ओर देवोंसे पूज्यपना, उसप्रकारके अर्थात् भगवान् जैसे जो गुरु है, उनके उपदेश ओर सेवासे प्राप्त हुआ जो ज्ञान ओर चारित्र हे, उस करके परिपूर्ण ऐसे सामान्य (साधारण) मुनियोंके भी दुर्लभ नहीं है। भावार्थ–ज्ञान और चारित्रसे युक्त साधारणमुनि भी देवोंसे पूजे जाते ह। इस कारण उन सामान्य मुनियोंको दूर करनेके लिये ' स्वयंभू ' यह विशेषण लगाया गया है। स्वय अर्थात् परके उपदेशकी अपेक्षा (जरूरत) न रखकर अपने आप ही जो तत्त्वोंको जाननेवाले हों वे स्वयभू अर्थात् अपने आप ज्ञानको प्राप्त हुए कहलाते है, । इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंसहित जो अतिमतीर्थंकर महावीरस्वामी है, उनको ' स्तोतु ' स्तुतिके गोचर करनेके लिये ' अह ' मे (हेमचन्द्र) ' यतिष्ये ' उद्यम करूगा ॥

१ निःशेषीकृतेऽपि पुनरुद्भवमाश्रयस्य आत्यतिक अभूय सभवद्दोषविनाश । २ ख पुस्तके अभ्रादित्वा मत्वर्थीयोऽप्रत्यय । इति पाठ ।

अत्र चाचार्यो भविष्यत्कालप्रयोगेण योगिनामप्यशक्यानुष्ठानं भगवद्गुणस्तवनं मन्यमानः श्रद्धामेव स्तुतिकरणेऽसाधारणं कारणं ज्ञापयन् यत्नकरणमेव मदधीनं न पुनर्यथावस्थितभगवद्गुणस्तवनसिद्धिरिति सूचितवान् । अहमिति च गतार्थत्वेऽपि परोपदेशान्यानुवृत्त्यादिनिरपेक्षतया निजश्रद्धयैव स्तुतिप्रारम्भ इति ज्ञापनार्थम् ।

'यतिष्ये' अर्थात् यत करूगा । यहांपर जो आचार्यने भविष्यत्कालका प्रयोग किया है, इससे भगवान्के गुणोंकी स्तुति योगियोंसे अर्थात् दिव्यज्ञानके धारक मुनियोसे भी नहीं हो सकती है । इसप्रकार मानते हुए और स्तुतिके करनेमें भक्ति ही एक असाधारण कारण है, ऐसा दूसरोंको जनाते हुए आचार्यने ' भगवान्के गुणोंकी स्तुति करनेमें प्रयत्नका करना ही मेरे आधीन है और भगवान्में जैसे गुण विद्यमान है, वैसे गुणोंके स्तवनकी सिद्धि मेरे आधीन नहीं है । ऐसा आशय सूचित किया है । और ' यतिष्ये ' यहापर जो उत्तम पुरुषका एक वचन दिया गया है, इससे यद्यपि ' अहं ' यह कर्त्ताको बोधन करनेवाला शब्द स्वयं ही आसकता था, तथापि परके उपदेशकी और अन्य (दूसरे) की अनुवृत्ति आदिकी अपेक्षा न करके मै मेरी भक्तिके वशसे ही स्तुतिका प्रारंभ करता हूं, यह समझानेके लिये ' अहं ' यह पद दिया गया है ॥

अथवा—श्रीवर्द्धमानादिविशेषणचतुष्टयमनन्तविज्ञानादिपदचतुष्टयेन सह हेतुहेतुमद्भावेन व्याख्यायते । यत एव श्रीवर्द्धमानमतएवाऽनन्तविज्ञानम् । श्रिया कृत्स्नकर्मक्षयाविर्भूताऽनन्तचतुष्कसंपद्रूपया वर्द्धमानम् । यद्यपि श्रीवर्द्धमानस्य परमेश्वरस्यानन्तचतुष्कसंपत्तेरुत्पत्त्यनन्तरं सर्वकालं तुल्यत्वाच्चयापचयौ न स्तस्तथापि निरपचयत्वेन शाश्वतिकावस्थानयोगाद्वर्द्धमानत्वमुपचर्यते । यद्यपि च श्रीवर्द्धमानविशेषणेनानन्तचतुष्कान्तर्भावित्वेनानन्तविज्ञानत्वमपि सिद्धम् । तथाप्यनन्तविज्ञानस्यैव परोपकारसाधकतमत्वाद्भगवत्प्रवृत्तेश्च परोपकारैकनिबन्धनत्वादनन्तविज्ञानत्वं शेषानन्तत्रयात्पृथग् निर्द्धार्याचार्येणोक्तम् ।

अथवा ' श्रीवर्द्धमानं ' इत्यादि जो श्लोकके उत्तरार्धमें चार विशेषण है, उनका 'अनन्तविज्ञानं ' इत्यादि पूर्वार्धके चार पदोंके साथ हेतुहेतुमद्भावसे अर्थात् ' श्रीवर्द्धमान ' यह तो हेतु (कारण) है और ' अनन्तविज्ञान ' यह हेतुमत् (कार्य) है । इस रूपसे व्याख्यान करते है । भगवान् श्रीवर्द्धमान है अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके नाशसे प्रकट हुई जो अनन्तचतुष्टयसंपदारूप लक्ष्मी है,

उससे बढ़ते हुए है। इसी कारण वे अनन्तविज्ञानके धारक हैं। यद्यपि श्रीमहावीरजिनेन्द्रके जनसे अनतचतुष्टय संपन्न उत्पन्न
हुई है, तभीसे वह अनन्तचतुष्टयसंपदा सदा एकसी रहती है, इसलिये उसमें घटना और बढ़ना नहीं है। तथापि वह संपदा
घटती नहीं है अर्थात् सदा समान रहती है। इस कारण उसमें वर्द्धमानताका अर्थात् बढ़नेपनेका उपचार (लक्षणा) किया जाता है।
ओर यद्यपि 'श्रीवर्द्धमान' इस विशेषणके देनेसे अनतविज्ञानपना भी भगवान्‌में सिद्ध हो गया। क्योंकि, यह अनन्तविज्ञान अनन्त
चतुष्टयमें अन्तर्गत (गिना जाता) है। तो भी अनन्तविज्ञान ही अन्य जीवोंका उपकार करनेमें समर्थ (असाधारण) कारण है और
भगवान्‌की जो प्रवृत्ति अर्थात् उपदेश आदिका देना है, उसमें परोपकार ही एक कारण है। इसलिये बाकीके तीन जो अनन्तदर्शन
आदि हैं, उनसे अनन्तविज्ञानको जुदा निश्चय करके आचार्यने यहांपर कहा है॥

ननु यथा जगन्नाथस्यानन्तविज्ञानं परार्थं तथाऽनन्तदर्शनस्यापि केवलदर्शनापरपर्यायस्य पारार्थ्यमव्याहतमेव।
केवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यामेव हि स्वामी क्रमप्रवृत्तिभ्यामुपलब्धं सामान्यविशेषात्मकं पदार्थसार्थं परेभ्यः प्ररूप-
यति। तत्किमर्थं तन्नोपात्तम्। इति चेदुच्यते। विज्ञानशब्देन तस्यापि संग्रहाददोषः, ज्ञानमात्रायां उभयत्राऽपि
समानत्वात्। य एव हि अभ्यन्तरीकृतसमताधर्मा विपमताधर्मविशिष्टा ज्ञानेन गम्यन्तेऽर्थास्त एव ह्यभ्यन्तरी-
कृतविपमताधर्मा समताधर्मविशिष्टा दर्शनेन गम्यन्ते। जीवस्वाभाव्यात्। सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषम-
र्थग्रहणं दर्शनमुच्यते। तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति।

शंका—जैसे भगवान्‌के अनंतविज्ञान परके उपकारके लिये है, उसी प्रकार केवलदर्शन है दूसरा नाम जिसका, ऐसा जो अनन्त
दर्शन है, वह भी विना किसी बाधाके परोपकारके निमित्त ही है। क्योंकि भगवान् क्रमानुसार प्रवृत्त हुए जो केवलदर्शन और केवल
ज्ञान है, उनसे जाना हुआ जो पदार्थोंका समूह है, उसीका अन्य जीवोंको उपदेश देते हैं। इसलिये यदि केवलज्ञानको भिन्न ग्रहण किया है,
तो अनन्तदर्शनको भी भिन्न क्यों नहीं ग्रहण किया? अब इसका समाधान कहते हैं कि, 'अनंतविज्ञान' यहांपर जो विज्ञान शब्द
है, उससे ज्ञानका तो ग्रहण है ही है। परंतु उस दर्शनका भी ग्रहण किया गया है। इसलिये जो तुम दोष देते हो सो ठीक नहीं है।

१ द्वयमात्रायां। २ गौणीकृत। ३ सामान्याख्यधर्मा। ४ विशेषधर्मयुक्ता। ५ गौणीकृत।

क्योंकि, ज्ञानकी मात्रा जो है वह केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनोंमें समान है । कारण कि—सामान्य धर्मोंको गौण करके विशेष धर्मोंसहित जो पदार्थ ज्ञानसे जाने जाते है, विशेष धर्मोंकी गौणतापूर्वक सामान्य धर्मोंसहित हुए वे ही पदार्थ दर्शनसे जाने जाते है क्योंकि, ये जीवके स्वभाव है । भावार्थ—विशेषको किया है गौण जिसमें और सामान्य है प्रधान जिसमें, ऐसा जो पदार्थका ग्रहण है, सो दर्शन कहलाता है । तथा जिसमें सामान्य गौण और विशेष मुख्य है, ऐसा जो पदार्थका ग्रहण करना है, उसको ज्ञान कहते है ॥

तथा यत एव जिनमत एवातीतदोषम् । रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः । नचाजिनस्यातीतदोषता । तथा यत एवाप्तमुख्यमत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । आप्तो हि प्रत्ययित उच्यते । तत आप्तेषु मुख्यं श्रेष्ठम् । आप्तमुख्यत्वं च प्रभोरविसंवादिवचनतया विश्वविश्वासभूमित्वात् । अत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । न हि यथावज्ज्ञानावलोकितवस्तुवादी सिद्धान्तः कुनयैर्बाधितुं शक्यते । यत एव स्वयम्भुवमत एवामर्त्यपूज्यम् । पूज्यते हि देवदेवो जगत्रयविलक्षणलक्षणेन स्वयंसम्बुद्धत्वगुणेन सौधर्मेन्द्रादिभिरमर्त्यैरिति ।

तथा वे भगवान् जिन है, इसीकारण दोषरहित है । जो रागादिकको जीतनेवाले हैं, उनको जिन कहते है । जो जिन नहीं है, वे दोपरहित भी नहीं है । और वे श्रीमहावीरस्वामी आप्तोंमें मुख्य है, इसीकारण बाधारहित सिद्धान्तवाले है । क्योंकि जो प्रतीतिवाला होता है, वह आप्त कहलाता है । आप्तोंमें जो मुख्य अर्थात् श्रेष्ठ हो, वह आप्तमुख्य कहा जाता है और विसंवादरहित वचनके धारक होनेसे भगवान् समस्त जीवोंके विश्रामके स्थान हैं इसी कारण आप्तमुख्य है । तथा आप्तमुख्य है, इसी कारण भगवान् बाधारहित सिद्धान्तके धारक है । क्योंकि; ज्ञानद्वारा जिस प्रकारसे स्थित पदार्थोंको देखे है, उसी प्रकारसे कहनेवाला जो सिद्धान्त है, वह अन्य कुमतावलम्बियोंसे बाधित नहीं हो सकता है । एवं भगवान् स्वयंभू है, इसीलिये देवोंसे पूज्य है । क्योंकि भगवान् तीन जगत्से भिन्न लक्षणका धारक जो स्वयंसंबुद्धत्व (स्वयं ज्ञानको प्राप्त होनेरूप) गुण है, उससे ही सौधर्मइन्द्र आदि देवोंद्वारा पूजे जाते है ॥

अत्र च श्रीवर्द्धमानमितिविशेषणतया यद्व्याख्यातं तदयोगव्यवच्छेदाभिधानप्रथमद्वात्रिंशिकाप्रथमकाव्यतृ-

तीयपादवर्त्तमानम् । 'श्रीवर्द्धमानाभिधमात्मरूपम्' इति विशेष्यमनुवर्त्तमान बुद्धौ सम्प्रधार्य विज्ञेयम् । तत्र हि आत्मरूपमितिविशेष्यपदम् । प्रकृष्ट आत्मा आत्मरूपस्त परमात्मानमिति यावत् । आवृत्त्या वा विशेषणमपि विशेष्यतया व्याख्येयमिति प्रथमवृत्तार्थ ॥ १ ॥

इस श्लोकमें जो 'श्रीवर्द्धमान' इस पदका विशेषणरूपसे व्याख्यान किया गया है, वह अयोगव्यवच्छेद नामकी धारक जो प्रथम द्वात्रिंशतिका (पहली बत्तीसी) है, उसके प्रथमकाव्यके तीसरे चरणमें विद्यमान 'श्रीवर्द्धमानाभिधमात्मरूपम्' इस विशेष्यको अपनी बुद्धिमें चला आता हुआ समझकर जानना चाहिये । वहापर 'आत्मरूप' यह विशेष्यपद है । प्रकृष्ट अर्थात् उत्तम आत्मा जो हो, वह आत्मरूप अर्थात् परमात्मा है, उसको । अथवा पुन आवृत्ति करके अर्थात् 'श्रीवर्द्धमान' इस पदको पहले विशेषणमें लेकरके, फिर विशेष्यरूपसे ग्रहण करके व्याख्यान करना चाहिये । इसप्रकार प्रथम काव्यका अर्थ है ॥ १ ॥

अस्या च स्तुतावन्ययोगव्यवच्छेदोऽधिकृतस्तस्य च तीर्थान्तरीयपरिकल्पिततत्त्वाभासनिरासेन तेषामासत्वव्यवच्छेद स्वरूपम् । तच्च भगवतो यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्ववादित्वख्यापनेनैव प्रामाण्यमश्नुते । अत स्तुतिकारस्त्रिजगद्गुरोर्निःशेषगुणस्तुतिश्रद्धालुरपि सद्भूतवस्तुवादित्वाख्य गुणविशेषमेव वर्णयितुमात्मनोऽभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह ।

इस स्तुतिमें अन्ययोगव्यवच्छेद अर्थात् दूसरोंके सबधको भिन्न करना लिया गया हे ओर उसका 'अन्यमतियों करके कल्पना किये हुए जो तत्त्वाभास है, उनका खडन करके, उन अन्यमतियोंको आप्तसे भिन्न करना' यह स्वरूप है । ओर वह भगवान्‌के वस्तुका स्वरूप जेसा स्थित है, वेसा कहनेवाले गुणका धारकपना प्रसिद्ध करनेसे ही प्रमाणताको प्राप्त होता है । इसकारण स्तुतिके कर्ता आचार्य यद्यपि तीन जगत्‌के गुरु श्रीभगवान्‌के समस्त गुणोंकी स्तुति करनेमें भक्ति रखते हे, तो भी यथास्थितपदार्थोंको कहनेरूप जो एक गुण हे, उसीका वर्णन करनेके लिये अपने अभिप्रायको प्रकट करते हुए अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ॥

---

१ पर्याय ।

अयं जनो नाथ तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥ २ ॥

काव्यभावार्थः— हे नाथ ! परीक्षा करनेमें दुर्विदग्ध अर्थात् अपनेको पंडितके समान माननेवाला यह मैं (प्रत्यक्षीभूत हेमचंद्र नामक आचार्य) आपके अन्य गुणोंकी स्तुति करनेके अर्थ इच्छावान् ही हूं । परन्तु एक यथार्थवादनामक गुणको ही स्तुतिसे व्याप्त करता हूं ॥ २ ॥

व्याख्या । हे नाथ अयं मल्लक्षणो जनस्तव गुणान्तरेभ्यो यथार्थवादव्यतिरिक्तेभ्योऽनन्यसाधारणशारीरलक्षणादिभ्यः स्पृहयालुरेव श्रद्धालुरेव। किमर्थं स्तवाय स्तुतिकरणाय । इयं तादर्थ्ये चतुर्थी पूर्वत्र तु स्पृहेर्व्याप्यं वेति लक्षणा । तव गुणान्तराण्यपि स्तोतुं स्पृहावानयं जन इति भावः । ननु यदि गुणान्तरस्तुतावपि स्पृहयालुता तत्किमर्थं तत्रोपेक्षेत्याशङ्क्योत्तरार्द्धमाह । किंत्वित्यभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने निपातः । एकमेकमेव यथार्थवादं यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापनाख्यं त्वदीयं गुणमयं जनो विगाहतां स्तुतिक्रियया समन्ताद् व्याप्नोतु तस्मिन्नेकस्मिन्नपि हि गुणे वर्णिते तत्रान्तरीयदैवतेभ्यो वैशिष्ट्यख्यापनद्वारेण वस्तुतः सर्वगुणस्तवनसिद्धेः ॥

व्याख्यार्थः— 'नाथ' भो स्वामिन् ? 'अयं' यह 'जनः' हेमचन्द्र नामक मनुष्य 'तव' आपके 'गुणान्तरेभ्यः' यथार्थवादसे भिन्न और अन्य देवोंमें नहीं रहनेवाले शरीरलक्षण आदि जो गुण है, उनको 'स्तवाय' स्तुतिगोचर करनेके अर्थ अर्थात् स्तुतिमें लानेके लिये 'स्पृहयालु एव' अभिलाषा (इच्छा) का धारक ही है ['स्तवाय' यहां तादर्थ्यमें चतुर्थी विभक्ति है और 'गुणान्तरेभ्यः' यहांपर "स्पृहेर्व्याप्यं वा" इस सूत्रसे स्पृह धातुके कर्ममें विकल्पसे चतुर्थी विभक्ति है।] भावार्थ—यह मैं आपके अन्य गुणोंकी स्तुति करनेके अर्थ भी इच्छा रखता ही हूं । 'जो अन्यगुणोंकी स्तुति करनेमें भी इच्छा है तो उन गुणोंकी स्तुति करनेमें अनादर क्यों है ?' इसप्रकार आशंका करके आचार्य उत्तरार्द्धको कहते हैं । 'किन्तु' किन्तु (नहिक) [किन्तु यह स्वीकार किये

१ पुस्तके- तर्हि कितान्यपि स्तोष्यति स उत नेत्याशंक्योत्तरार्द्धमाह । इति पाठः ।

गुणम विशेषता जनानेके अर्थमें निपात है] 'एकम्' एक ही 'यथार्थवादम्' 'वस्तुके यथास्थित स्वरूपको कहनेवाला' इस नामका धारक जो आपका गुण है उसीको यह मनुष्य 'विगाहतां' स्तुतिरूप क्रियासे सर्वत व्याप्त करो । क्योंकि, उस यथार्थवादित्वनामक एक ही गुणका वर्णन किये जानेपर अन्यमतके देवोंसे विशिष्टताका कथन हो जायगा। जिसके कि द्वारा वास्तवमें संपूर्ण गुणोंके स्तोत्रकी सिद्धि हो जावेगी ॥

अथ प्रस्तुतगुणस्तुति सम्यक्परीक्षाक्षमाणा दिव्यदृशामेवौचितीमञ्चति नाऽर्वाग्दृशां भवादृशामित्याशङ्का विशेषणद्वारेण निराकरोति । यतोऽयं जनः परीक्षाविधिदुर्विदग्धः अधिकृतगुणविशेषपरीक्षणविधौ दुर्विदग्धः पण्डितमन्य इति यावत् । अयमाशयो यद्यपि जगद्गुरोर्यथार्थवादित्वगुणपरीक्षणं मादृशां मतेरगोचरस्तथापि भक्तिश्रद्धातिशयात् तस्यामहमात्मानं विदग्धमिव मन्य इति । विशुद्धश्रद्धाभक्तिव्यक्तिमात्रस्वरूपत्वात्स्तुतेः । इति वृत्तार्थः ॥ २ ॥

अत्र 'यथार्थवादित्व नामक जो गुण है, उसकी स्तुति करना उत्तमरीतिसे परीक्षा करनेमें समर्थ जो दिव्यज्ञानके धारक मुनीश्वर है, उनके ही योग्य है और तुम जैसे छद्मस्थोंके, उस गुणकी स्तुति करनेकी योग्यता नहीं है ।' इसप्रकार जो किसीकी आशका है, उसको विशेषणद्वारा दूर करते हुए आचार्य कहते है । क्योंकि, यह मै (हेमचन्द्र) 'परीक्षाविधिदुर्विदग्ध.' इस यथार्थवादित्वनामक गुणकी परीक्षा करनेमें दुर्विदग्ध हू अर्थात् अपनेको पडित मानता हू । भावार्थ–यह है कि, यद्यपि तीनजगत्के गुरु श्रीजिनेन्द्रके यथार्थवादित्व गुणकी परीक्षा करना मेरे जेसोकी बुद्धिका विषय नहीं है, तथापि भक्ति ओर श्रद्धाके प्रभावसे उस परीक्षा करनेमें मै मुझको चतुरकी समान मानता हू। क्योंकि, निर्मल श्रद्धा और भक्तिकी जो प्रकटता है, वही स्तुतिका स्वरूप है। इसप्रकार दूसरे काव्यका अर्थ है ॥ २ ॥

अथ ये कुतीर्थ्या कुशास्त्रवासनावासितस्वान्ततया त्रिभुवनस्वामिनं स्वामित्वेन न प्रतिपन्नास्तानपि तत्त्वविचारणां प्रति शिक्षयन्नाह ।

---

१ अतीन्द्रियज्ञानिनां । २ योग्यतां । ३ छद्मस्थानां ।

अब जो कुमतावलम्बी कुशास्त्रोंकी गंधसे वासको प्राप्त हुए चित्तसे तीन लोकके स्वामी श्रीजिनेन्द्रको स्वामी नही मानते है, उनको भी तत्त्वोंका विचार करनेके लिये शिक्षा देते हुए आचार्य इस अग्रिम काव्यका कथन करते हें ॥—

गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि सम्मील्य विलोचनानि विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥ ३ ॥

काव्यभावार्थः—हे नाथ ! यद्यपि गुणोंमें ईर्षाको धारण करनेवाले ये कुमतावलम्बी आपको स्वामी न मानैं, तथापि नेत्रोंको मींच करके सच्चे न्यायमार्गका विचार करैं ॥ ३ ॥

अमी इति । 'अदसस्तु विप्रकृष्टे' इति वचनात्तत्त्वातत्त्वविमर्शबाह्यतया दूरीकरणार्हत्वाद्विप्रकृष्टाः परे कुतीर्थिका भवन्तं त्वामनन्यसामान्यसकलगुणनिलयमपि मा ईशं शिश्रियन् मा स्वामित्वेन प्रतिपद्यन्ताम् । यतो गुणेष्वसूयां दधतो गुणेषु बद्धमत्सराः । गुणेषु दोषाविष्करणं ह्यसूया । यो हि यत्र मत्सरीभवति स तदाश्रयं नानुरुध्यते । यथा माधुर्यमत्सरी करभः पुण्ड्रेक्षुकाण्डम् । गुणाश्रयश्च भवान् । एवं परतीर्थिकानां भगवदाज्ञाप्रतिपत्तिं प्रतिषिध्य स्तुतिकारो माध्यस्थ्यमिवास्थाय तान् प्रति हितशिक्षामुत्तरार्द्धेनोपदिशति । तथापि त्वदाज्ञाप्रतिपत्तेरभावेऽपि लोचनानि नेत्राणि सम्मील्य मिलितपुटीकृत्य सत्यं युक्तियुक्तं नयवर्त्म न्यायमार्गं विचारयन्तां विमर्शविषयीकुर्वन्तु ।

व्याख्यार्थः—'अमी' ('अदस् शब्दका दूरवर्ती पदार्थको प्रकट करनेके लिये प्रयोग होता है' इस वचनसे) तत्त्व और अतत्त्वके विचारसे रहित होनेके कारण दूर रखने योग्य 'परे' कुमतावलम्बी 'भवन्तं' अन्य देवोंमें नही रहनेवाले ऐसे संपूर्ण गुणोंके स्थान आपको 'नाम' भी 'ईशं' स्वामी 'मा' मत 'शिश्रियन्' स्वीकार करो । क्योंकि, वे 'गुणेषु' गुणोंमें 'असूयां' ईर्षाको 'दधतः' धारण करनेवाले हैं, अर्थात् गुणोंमें ईर्षा रखते हैं । भावार्थ—गुणोंमें दोषोंको प्रकट करना ही

१ इदमः प्रत्यक्षगते समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् । १ ।

असूया (ईर्षा) है। जो जिस गुणमें ईर्षाको धारण करता है, वह उस गुणके धारकको भी नहीं स्वीकार करता है। जैसे ऊंट मधुर (मीठे) रसमें ईर्षाको रखता है, इस कारण वह मधुर रसके धारक पौंडे साठोंके समूहको भी नहीं ग्रहण करता है। इसी प्रकार गुणोंमें ईर्षाके धारक वे तुम्हारी गुणोंको धारण करनेवाले आपको भी नहीं मानते है। इसप्रकार 'परमतावलम्बी भगवान्की आज्ञा नहीं मानते है' यह कहकर, स्तुतिकर्ता आचार्य एकवार उनमें मध्यस्थता (उदासीनपने) को ही मानो धारण करके, फिर भी उनको काव्यके उत्तरार्द्धसे हितका उपदेश देते हैं। 'तथापि' आपकी आज्ञाको स्वीकार न करने पर भी 'विलोचनानि' नेत्रोंको 'सम्मील्य' बंद (मीच) करके 'सत्य' युक्तियों सहित 'नयवर्त्म' न्यायके मार्गको 'विचारयन्ताम्' विचारो।

अत्र च विचारयन्तामित्यात्मनेपदेन फलवत्कर्तृविषयेणैव ज्ञापयत्याचार्यो यदवितथनयपथविचारणया तेषामेव फलं वयं केवलमुपदेष्टार । किं तत्फलमिति चेत्प्रेक्षावत्तेति ब्रूम । सम्मील्य विलोचनानीति च वदत प्रायस्तत्त्वविचारणमेकाग्रताहेतुनयननिमीलनपूर्वकं लोके प्रसिद्धमित्यभिप्राय । अथवा अयमुपदेशस्तेभ्योऽरोचमान एवाचार्येण वितीर्यते। ततोऽस्वदमानोऽप्ययं कटुकौषधपानन्यायेनायतिसुखत्वाद्भवद्भिर्नेत्रे निमील्य पेय एवेत्याकूतम्।

'विचारयन्ताम्' यहांपर कर्ताके विषें फलको धारण करनेवाले आत्मनेपदका प्रयोग करनेसे आचार्य 'सच्चे न्यायमार्गका विचार करनेसे उनको ही फल होगा, हमको नहीं। क्योंकि हम तो केवल उपदेश देनेवाले है' ऐसा अभिप्राय विदित करते है। सच्चे न्यायमार्गका विचार करनेसे उनको क्या फल होगा? यह पूछो तो हम उत्तर देते है कि, 'वे प्रेक्षावान् (विचार करके काम करनेवाले) कहलाये जावेंगें' यही उनको फल होगा। 'सम्मील्य विलोचनानि' ऐसा कहते हुए आचार्य यह अभिप्राय सूचित करते है कि, चित्तकी एकाग्रताका कारणभूत जो नेत्रोंको बंद करना है, उस पूर्वक तत्त्वोंका विचार किया जाता है' ऐसा भाव लोकमें प्रसिद्ध है। इसलिये वे अन्यमती भी नेत्र बंद करके, सावधान होकर सच्चे न्यायमार्गका विचार करें। अथवा आचार्य यह उपदेश, उनको नहीं रुचता हुआ ही देते है। इसकारण नहीं रुचता हुआ भी यह उपदेश आगामी कालमें सुखरूप होनेके कारण कटुकौषधपानन्यायसे उनको नेत्र बंद करके पी जाना ही चाहिये यह आशय है। भावार्थ—जैसे वैद्य रोगीको रोग दूर करनेके लिये कड़वी औषध देते है।

और रोगी उरा कडवी औषधको अपने आराम होनेके लिये नेत्र बंद करके पी जाता है। वैसे ही यद्यपि वर्त्तमानमें यह उपदेश उनको अच्छा नहीं लगेगा। तथापि भविष्यमें सुख देनेवाला है, इसलिये इस उपदेशपर उनको नेत्रबंद करके विचार करना ही चाहिये।

ननु च यदि पारमेश्वरे वचसि तेषामविवेकातिरेकादरोचकिता तत्किमर्थं तान्प्रत्युपदेशक्लेश इति। नैवं। परोपकारसारप्रवृत्तीनां महात्मनां प्रतिपाद्यगतां रुचिमरुचिं वानपेक्ष्य हितोपदेशप्रवृत्तिदर्शनात्। तेषां हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात्। न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः। तथा चार्षम्[1]—"रूसउ वा परो मा वा विसं वा परियत्तउ॥ भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया। १।" उवाच च वाचकमुख्यः[2]—"न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्॥ ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति।१। इति वृत्तार्थः।

शंका—यदि अज्ञानकी अधिकतासे उनको अर्हन्त परमेश्वरके वचनमें अरुचि है, तो आप उनके प्रति उपदेश देनेका परिश्रम किसलिये करते हे? समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, अन्यका उपकार करना ही है सारभूत वर्त्ताव जिनके, ऐसे जो महात्मा है, वे शिष्यकी रुचि अथवा अरुचिकी अपेक्षा न करके ही हितरूप उपदेशके देनेमें प्रवृत्ति करते हैं, ऐसा देखा जाता है। क्योंकि, वे परार्थ (परोपकार) ही को स्वार्थरूप मानते हैं। और परमार्थसे (वास्तवमें) हितोपदेशके सिवाय दूसरा कोई परोपकार नहीं है। इस विषयमें ऋषियोंका वाक्य भी है कि, "जिसको उपदेश दिया जावे वह रोष करे अथवा न करे, वा चाहे वह उस उपदेशको विषरूप समझे। परन्तु ऐसे ही वचन बोलने चाहिये जो कि निजपक्षको गुण करें अर्थात् जिसमें अपना हित हो, वैसा ही उपदेश देना चाहिये, १।" और वाचकमुख्य (श्रीउमास्वातिजी) भी कहते है कि—"हितरूप उपदेशके श्रवण करनेसे संपूर्ण श्रोताओंको धर्म होवे ही, ऐसा एकान्त अर्थात् निश्चय नहीं है. परन्तु अनुग्रह बुद्धिसे जो हितोपदेशका कहनेवाला है उसको तो नियमसे धर्म होता ही है। १।" इस प्रकार तृतीय काव्यका अर्थ है॥ ३॥

अथ यथावन्नयवर्त्मविचारमेव प्रपञ्चयितुं पराभिप्रेततत्त्वानां प्रामाण्यं निराकुर्वन्नादितस्तावत्काव्यषट्केनौलूक्यमताभिमततत्त्वानि दूषयितुकामस्तदन्तःपातिनौ प्रथमतरं सामान्यविशेषौ दूषयन्नाह॥

1 शिष्यविषये। 2 वाचकेषु मुख्यः. [?] 3 रुष्यतु वा परो मा वा, विषं वा परिवर्तयतु। भाषितव्या हिता भाषा, स्वपक्षगुणकारिका।१। इतिच्छाया. 4 उमास्वातिरिति।

अब यथार्थ नयमार्गके विचारका ही विस्तार करनेके लिये परमतियोंके माने हुए तत्त्वोंकी प्रमाणताको दूर करते हुए और प्रथम ही ६ काव्योंद्वारा वैशेषिकमतके तत्त्वोंको दूषित करनेकी इच्छा रखते हुए आचार्य सबसे प्रथम उन वैशेषिकतत्त्वोंके मध्यमें गिरनेवाले जो सामान्य और विशेष नामक दो पदार्थ हैं उनको दूषित करनेके लिये इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ॥—

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद्द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ ४ ॥

काव्यभावार्थ —पदार्थ अपने आप ही अनुवृत्ति तथा व्यतिवृत्तिको धारण करते हैं। उनका स्वरूप अन्य किसी पदार्थसे प्रतीत होने योग्य नहीं है। इसकारण जो अकुशलवादी असत्यस्वरूप और पदार्थसे भिन्न ऐसे सामान्य तथा विशेषसे अनुवृत्ति (सामान्य) और व्यतिवृत्ति (विशेष) प्रत्ययका कथन करते हैं वे पतनको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या । अभवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावाः पदार्था आत्मपुद्गलादयस्ते स्वत इति । सर्वं हि वाक्यं सावधारणमामनन्तीति स्वत एवात्मीयस्वरूपादेवानुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः । एकाकारा प्रतीतिरेकशब्दवाच्यता चानुवृत्तिः, व्यतिवृत्तिर्व्यावृत्तिर्विजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदस्ते उभे अपि सवलिते भजन्ते आश्रयन्तीति अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः सामान्यविशेषोभयात्मका इत्यर्थः ।

व्याख्यार्थ —'भावाः' जो हो चुके, हो रहे हैं और होवेंगे, वे भाव अर्थात् आत्मा, पुद्गल आदि पदार्थ हैं। वे 'स्वत एव' [यहां आचार्य सब वाक्योंको एवकारसहित कहते हैं, इसकारण एवका अध्याहार किया गया है] अपने आप ही 'अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः' एक आकारवाली प्रतीति और एक शब्दसे कहने योग्यता जो है, उसको अनुवृत्ति (सामान्य)

---

१ अन्वयव्यतिरेकयुक्ताः । २ एवकारसहित ।

कहते है, और विजातीय पदार्थोंसे जो सर्वथा जुदापना है, उसको व्यतिवृत्ति (विशेष) कहते है। मिले हुए इन दोनोंको भी जो धारण करें, वे अनुवृतिव्यत्तिवृत्तिभाज है । अर्थात् सामान्य तथा विशेष इन दोनों स्वरूप है ।

अस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह । न भावान्तरनेयरूपा इति। नेति निषेधे । भावान्तराभ्यां पराभिमताभ्यां द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः पदार्थान्तराभ्यां भावव्यतिरिक्तसामान्यविशेषाभ्यां नेयं प्रतीतिविषयं प्रापणीयं रूपं यथासंख्यमनुवृत्तिव्यतिवृत्तिलक्षणं स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः। स्वभाव एव ह्ययं सर्वभावानां यदनुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययौ स्वत एव जनयन्ति। तथा हि घट एव तावत्पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् प्रतीतिविषयीभवन् सन्नन्यानपि तदाकृतिभृतः पदार्थान् घटरूपतया घटैकशब्दवाच्यतया च प्रत्याययन् सामान्याख्यां लभते । स एव चेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् विशेषव्यपदेशमश्नुते । इति न सामान्यविशेषयोः पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पनं न्याय्यम् । पदार्थधर्मत्वेनैव तयोः प्रतीयमानत्वात् । न च धर्म्मा धर्म्मिणः सकाशादत्यन्तं व्यतिरिक्ताः । एकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावाऽनुपपत्तेः। करभरासभयोरिव धर्म्मधर्म्मिव्यपदेशाऽभावप्रसङ्गाच्च। धर्म्माणामपि च पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पने एकस्मिन्नेव वस्तुनि पदार्थानन्त्यप्रसङ्गः । अनन्तधर्म्मकत्वाद्वस्तुनः ।

अब इसी अर्थके व्यतिरेकका कथन करते है । '**न भावान्तरनेयरूपाः**' [यहां 'न' निषेध अर्थमें है] पदार्थ वैशेषिकोंके माने हुए जो द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय नामक पदार्थ है, उनसे भिन्न जो सामान्य तथा विशेष है, उन करके नेय अर्थात् प्रतीतिके गोचर करने योग्य है स्वरूप जिनका, ऐसे नही है। क्योंकि सब पदार्थोंका यह स्वभाव ही है कि, वे अनुवृत्ति और व्यतिवृत्ति प्रत्ययको स्वयं ही उत्पन्न करते है। सो ही दिखलाते है कि, जैसे पृथु (मोटे) और बुध्न (गोल) ऐसे उदर (पेट) आदिके आकारको धारण करनेवाला घडा जब प्रथम ही प्रतीत होता है, तब अपने जैसे आकारको धारण करनेवाले जो अन्य (दूसरे) पदार्थ है, उनको भी घट रूपतासे और 'घट' इस एकशब्दवाच्यतासे विदित करता हुआ 'सामान्य' इस नामको धारण करता है। और वही घड़ा अपनी जातिवाले जो दूसरे घट है, उनसे तथा अपनी जातिसे भिन्न जो पट आदि है, उनसे द्रव्य, क्षेत्र, काल

१ उच्चारणं । २ अनिष्टापादन प्रसङ्ग. ।

ओर भावद्वारा अपनेको जुदा करता हुआ ' विशेष ' इस नामको धारण करता हे। इस कारण तुमने जो सामान्य ओर विशेषको पदार्थसे भिन्न पदार्थ माने है, सो न्याय (उचित) नही हे। क्योंकि वे दोनो अन्य पदार्थोंके धर्मरूप ही प्रतीत होते है। और धर्मीसे धर्म अत्यन्त भिन्न नहीं है। क्योंकि, यदि धर्म ओर धर्मीके सर्वथा भेद मान लिया जावे तो ' यह विशेषण है ओर यह विशेष्य है' इस प्रकारका जो विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध हे, उसकी सिद्धि न होगी। ओर जैसे ऊंट ओर गर्दभ (गधे) में अत्यन्त भिन्नताके कारण धर्मधर्मीभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता हे, उसी प्रकार पदार्थोंमें भी अत्यन्त भिन्नताके कारण धर्मधर्मीभाव न होगा, अर्थात् यह पदार्थ इन धर्मोंका धर्मी हे, ओर यह धर्मी (पदार्थ) इन धर्मोंको धारण करनेवाला हे, इस प्रकारका जो व्यवहार हे, उसके अभावका प्रसग होगा। तथा यदि धर्मोंको भी भिन्न पदार्थ मानोगे तो, एक ही वस्तुमें अनन्त पदार्थ माननेका प्रसग होगा। क्योंकि, वस्तु अनन्त धर्मोंका धारक है।

तदेव सामान्यविशेषयो स्वतत्त्व यथावदनवबुध्यमाना अकुशला अतत्त्वाभिनिविष्टदृष्टयस्तीर्थान्तरीया स्खलन्ति न्यायमार्गाद्भ्रश्यन्ति निरुत्तरीभवन्तीत्यर्थ । स्खलनेन चात्र प्रामाणिकजनोपहसनीयता ध्वन्यते। कि कुर्वाणा द्वय अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षण प्रत्ययद्वय वदन्त । कस्मादेतत्प्रत्ययद्वय वदन्त इत्याह—परात्मतत्त्वात्परौ पदार्थेभ्यो व्यतिरिक्तत्त्वादन्यौ परस्परनिरपेक्षौ च यौ सामान्यविशेषौ तयोर्यदात्मतत्त्व स्वरूपमनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षण तस्मात्तदाश्रित्येत्यर्थ । ' गम्ययप कर्माधारे ' इत्यनेन पञ्चमी । कथभूतात्परात्मतत्त्वादित्याह। अतथात्मतत्त्वात्। माभूत्पराभिमतस्य परात्मतत्त्वस्य सत्यरूपतेति विशेषणमिदम् । यथा येनैकान्तभेदलक्षणेन प्रकारेण परै प्रकल्पित न तथा तेन प्रकारेणात्मतत्त्व स्वरूप यस्य तत्तथा तस्मात्। यत पदार्थेष्वविष्वग्भावेन सामान्यविशेषौ वर्त्तेते। तैश्च तौ तेभ्य परत्वेन कल्पितौ परत्न चान्यत्व तच्चैकान्तभेदाऽविनाभावि।

सो इसप्रकार सामान्य ओर विशेषके स्वरूपको यथावत् (जेसा हे वेसा) नहीं समझते हुए ' अकुशला[1] ' अतत्त्वको तत्त्व माननेमें दुराग्रहरूप हे दृष्टि (बुद्धि) जिनकी ऐसे, अन्यमती ' स्खलन्ति ' न्यायके मार्गसे गिरते है अर्थात् उत्तररहित होते

---

१ कदाग्रहिक। २ अभिन्नभावन।

है । [यहांपर ' स्खलन ' इसके कहनेसे ' प्रामाणिक जनोंसे हंसे जाते है ' यह अर्थ ध्वनित होता है] । क्या करते हुए स्खलित होते है ' द्वयं ' अनुवृत्ति और व्यावृत्तिरूप लक्षणके धारक जो दो प्रत्यय है, उनको ' वदन्तः ' कहते हुए स्खलित होते हैं। किससे इन दो प्रत्ययोंको कहते हुए स्खलित होते है ? इस आशंकामें कहते है कि ' परात्मतत्त्वात् ' पदार्थोंसे भिन्न होनेके कारण अन्य और आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा (जरूरत) को नही धारण करनेवाले ऐसे जो सामान्य और विशेप है, उनका जो आत्मतत्त्व अर्थात् अनुवृत्ति तथा व्यावृत्तिरूप स्वरूप है, उससे अर्थात् उसका आश्रय करके [यहांपर ' गम्ययपःकर्माधारे ' इस सूत्रसे पचमी विभक्ति हुई है] कैसे परात्मतत्त्वसे ? इस आशंकापर कहते है ' अतथात्मतत्त्वात् ' [अन्य मतियोंद्वारा माना हुआ जो परात्मतत्त्व है वह सत्य न हो इसलिये यह विशेषण दिया गया है] जिस एकान्तभेदरूप लक्षणके धारक प्रकारसे वैशेपिकोंने माना है, उस प्रकार नही है स्वरूप जिसका ऐसे परात्मतत्त्वसे । क्योंकि, सामान्य तथा विशेप ये दोनों पदार्थोंमें व्याप्त होकर स्थित है और वैशेपिकोंने इन दोनोंको पदार्थोंसे पर (जुदे) माने है । परका अर्थ अन्य है और वह अन्यपना सर्वथा भेद माने विना नही हो सकता है ।

किञ्च पदार्थेभ्यः सामान्यविशेषयोरेकान्तभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे एकवस्तुविषयं अनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपं प्रत्यय-द्वयं नोपपद्येत । एकान्ताभेदे चान्यतरस्यासत्त्वप्रसङ्गः, सामान्यविशेषव्यवहाराऽभावश्च स्यात् सामान्यविशेषो-भयात्मकत्वेनैव वस्तुनः प्रमाणेन प्रतीतेः । परस्परनिरपेक्षपक्षस्तु पुरस्तान्निर्लोठयिष्यते । अत एव तेषां वादिनां स्खलनक्रिययोपहसनीयत्वमभिव्यज्यते । यो ह्यन्यथा स्थितं वस्तुस्वरूपमन्यथैव प्रतिपद्यमानः परेभ्यश्च तथैव प्रज्ञापयन् स्वयं नष्टः परान्नाशयति न खलु तस्मादन्य उपहासपात्रम् । इति वृत्तार्थः ॥ ४ ॥

और यह भी विशेप है कि, यदि पदार्थोंसे सामान्य और विशेपके सर्वथा भेद मानलिया जावे, तो एक वस्तुमें विपयके धारक अनुवृत्ति और व्यावृत्तिरूप दो प्रत्यय सिद्ध न होवें । तथा यदि सर्वथा अभेद मानें तो दोनोंमेंसे किसी एकके अभावका प्रसंग आवै, और सामान्यविशेषरूप जो व्यवहार है, उसका भी अभाव होवै । क्योंकि, प्रमाणद्वारा सामान्य तथा विशेप इन दोनों रूपतासे ही वस्तुकी प्रतीति होती है अर्थात् सामान्य—विशेप स्वरूप ही पदार्थ प्रमाणसे जाना जाता है । [सामान्य और विशेप ये दोनों परस्पर अपेक्षा

रहित हैं, यह पक्ष जो कह आये है, इसका खडन आगे करेंगे।] इसी लिये उन वादियोंके स्खलन क्रियासे हास्यकी योग्यता प्रकट की जाती है। क्योंकि, जो अन्य प्रकारसे स्थित वस्तुके स्वरूपको आप अन्य प्रकारसे मानता है और अन्य पुरुषोंको भी उसी प्रकार समझाता है, वह आप नाशको प्राप्त होकर दूसरोंका भी नाश करता है। इसलिये निश्चयकर उसके सिवाय कोई दूसरा हास्यका पात्र नहीं है। इसप्रकार काव्यका अर्थ है ॥ ४ ॥

अथ तदभिमतावेकान्तनित्यानित्यपक्षौ दूषयन्नाह ।

अब वैशेपिकमतवालोंके अभीष्ट जो एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य पक्ष है, उन दोनों एकान्तपक्षोंमें दोप देते हुए आचार्य अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ॥—

आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ५ ॥

काव्यभावार्थ —दीपकसे लेकर आकाश पर्यन्त अर्थात् समस्त ही पदार्थ समान स्वभावके धारक हैं। क्योंकि, सब ही पदार्थ स्याद्वादकी मर्यादाका उल्लघन नहीं करते हैं। तथापि उनमें दीपक आदि कितने ही पदार्थ सर्वथा अनित्य है और आकाश आदि कितने ही पदार्थ सर्वथा नित्य हैं। इस प्रकार आपकी आज्ञासे द्वेप रखनेवालोंके अर्थात् वैशेपिक मतवालोंके प्रलाप हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या। आदीप दीपादारभ्य आव्योम व्योम मर्यादीकृत्य सर्व वस्तु पदार्थस्वरूप समस्वभाव समस्तुल्य स्वभावः स्वरूप यस्य तत्तथा। किञ्च–वस्तुन स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति ब्रूम। तथा च वाचकमुख्य —"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" इति। समस्वभावत्व कुत इति विशेपणद्वारेण हेतुमाह। स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्। तत स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। तस्य मुद्रा मर्यादा ता नाऽतिभिनत्ति नातिक्रामतीति स्याद्वादमुद्रानतिभेदि। यथा हि न्यायैकनिष्टे

राजनि राज्यश्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्त्तितुमीशते। तददतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात् । एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति । तदुलङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः ॥

व्याख्यार्थः—**'आदीपं'** दीपकसे लेकर **'आव्योम'** आकाशपर्यन्त **'वस्तु'** सब पदार्थोंका स्वरूप **'समस्वभावं'** समान (एकसे) स्वभाववाला है । किंच हम 'वस्तुका स्वरूप द्रव्य और पर्यायरूप है' ऐसा कहते हैं । और वाचकमुख्य (श्रीउमास्वाति)नें भी "जो उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) तथा ध्रौव्य (नित्यता)से युक्त है, वह सत् (वस्तु) है" इसी प्रकार वस्तुका लक्षण कहा है । सब वस्तु समान स्वभावका धारक कैसें है ? इस आशकामें विशेषण द्वारा हेतुका कथन करते है । **'स्याद्वादमुद्रानतिभेदि'** 'स्यात्' यह अनेकान्तको सूचित करनेवाला अव्यय है । इस कारण स्याद्वादका अर्थ अनेकान्तवाद अर्थात् नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मोंके धारक एक वस्तुका स्वीकार करना है । उस स्याद्वादकी मुद्रा अर्थात् मर्यादाका उल्लघन करनेवाला नही है । **भावार्थ**—जैसे न्यायमें ही तत्पर ऐसा कोई राजा राज्यलक्ष्मीका शासन करता हो, तो समस्त प्रजा उसकी मुद्रा (मोहर) का उल्लघन नही कर सकती है । क्योंकि, उसके उलंघन करनेसे उस प्रजाके सर्वस्व (सब धन)का नाश हो जावे । इसीप्रकार कंटक (शत्रु) रहित, और विजयी ऐसे स्याद्वादरूपी महाराजके विद्यमान रहते हुए, सब ही पदार्थ उस स्याद्वादकी मुद्राका उलंघन नही कर सकते है । क्योंकि, उसका उलंघन करनेपर उनके अपने स्वरूपकी जो व्यवस्था (स्थिति) है, उसके नाशका प्रसग होता है ॥

सर्ववस्तूनां समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपाद्यनित्यमेव, इति वादस्य प्रतिक्षेपबीजम्। सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशा[1]त्पुनरनित्याः। तत्रैकान्ताऽनित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्याऽनित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्रमुच्यते ।

आचार्यने जो 'सब पदार्थ समान स्वभावके धारक है' ऐसा कहा है, सो 'आकाश आदि एक पदार्थ नित्य ही है और दूसरे प्रदीप आदि पदार्थ अनित्य ही है' इसप्रकार जो वैशेपिकोंका माना हुआ एकान्तवाद है, उसके खंडन करनेमें बीज (कारण)

१ प्राधान्यात्, अपेक्षातो वा ।

है अर्थात् आचार्य इसीके आधारपर एकान्तवादका खडन करेगे । क्योंकि, सब ही पदार्थ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे नित्य है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अनित्य हे । उनमें प्रथम ही परवादियोने जिस दीपकको एकात अनित्य माना है, उसी दीपकमें नित्य तथा अनित्यरूप दोनों धर्म सिद्ध करनेके लिये कुछ कहते हे ॥

तथा हि– प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसा परमाणव स्वरसंतस्तैलक्षयाद्वाताभिघाताद्वा ज्योति पर्याय परित्यज्य तमोरूप पर्यायान्तरमासादयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्या । पुद्गलद्रव्यरूपतयाऽवस्थितत्वात्तेषाम् । नह्येतावतैवाऽनित्यत्व यावता पूर्वपर्यायस्य विनाश , उत्तरपर्यायस्य चोत्पाद । न खलु मृद्द्रव्य स्थासककोशकुशूलशिवकघटाद्यवस्थान्तराण्यापद्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम् । तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्याऽबालगोपाल प्रतीतत्वात् । न च तमस पौद्गलिकत्वमसिद्धम् । चाक्षुषत्वान्यथानुपपत्ते । प्रदीपालोकवत् ॥

सो ही दिखलाते है कि, दीपककी पर्यायको प्राप्त हुए जो तेजके परमाणु है, वे यद्यपि स्वभावसे[1], तैलके न रहनेसे अथवा पवनकी टक्कर लगनेसे, अपने प्रकाशरूप पर्यायको छोडकर तम (अधकार) रूप जो दूसरा पर्याय हे, उसको प्राप्त होते है, तथापि एकातसे अनित्य नहीं है । क्योंकि, वे तेजके परमाणु पुद्गलद्रव्यरूपतासे, उस तमरूप पर्यायमें भी विद्यमान हे । और पूर्व पर्यायका नाश तथा उत्तर पर्यायका जो उत्पन्न होना हे, इतने ही से दीपकमें अनित्यता नहीं हो सकती है । क्योंकि, मृत्तिका (मिट्टी) द्रव्य यद्यपि स्थासक (चाकपर धरा हुआ मिट्टीका पिंड), कोश (उस मिट्टीके पिंडका बना हुआ आकार), कुशूल (उस बने हुए आकार पर हात फेरनेसे उत्पन्न हुआ एक प्रकारका आकार), शिवक (कपाल), घट (घड़ा) इत्यादि रूप भिन्न २ अवस्थाओंको प्राप्त होता है, तथापि सर्वथा नष्ट नहीं होता हे । क्योकि, उन स्थासक आदि पर्यायोंमें बालकसे लेकर गोपाल (ग्वालिये) तक सबोंके मृत्तिकाद्रव्यकी प्रतीति होती हे अर्थात् सभी स्थासक आदिमें मृत्तिकाद्रव्यको स्वीकार करते हे । ओर तमके पौद्गलिकत्व (पुद्गलका पर्यायपना) असिद्ध नहीं है । क्योंकि, जेसे प्रदीपका प्रकाश पौद्गलिक होनेसे चाक्षुष (नेत्रोंका विषय) हे, उसी प्रकार तम भी पौद्गलिक होनेसे ही चाक्षुष है । और यदि तुम तमको पौद्गलिक न मानो तो वह चाक्षुष भी नहीं हो सकता हे । इसलिये सिद्ध हुआ कि तम पौद्गलिक है ।

---

१ स्वभावत ।

अथ यच्चाक्षुषं तत्सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते, न चैवं तमस्तत्कथं चाक्षुषम्। नैवम्। उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात्। यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते, तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते। विचित्रत्वाद्भावानाम्। कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः, प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः। इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम्।

शंका—जो चाक्षुप पदार्थ है, वह अपने देखे जानेमें प्रकाश (उजाले) की अपेक्षा (जरूरत) रखता है। और तम ऐसा नही है अर्थात् विना प्रकाशके ही देखनेमें आता है। इसलिये आप तमको चाक्षुप कैसे कहते है? समाधान—यह तुम्हारी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि, जो चाक्षुप पदार्थ तुमको प्रकाशके विना नही दीख पड़ता है, वही चाक्षुप पदार्थ उलूक (घूघू) आदिको प्रकाशके विना भी दीखनेमें आता है। और जिन हम तुम वगैरहको जो दूसरा चाक्षुप घटादिक पदार्थ प्रकाशके विना नही दीखता है, उन्हीं हम तुम वगैरहको चाक्षुप तम प्रकाशके विना भी देखनेमें आवेगा। क्योंकि, पदार्थ विचित्र है अर्थात् सव पदार्थ एकसे नहीं है। यदि पदार्थोंमें विचित्रता न हो, तो पीत (पीला) सुवर्ण और श्वेत (सफेद) मोती वगैरह तो अपने देखे जानेमें प्रकाशकी अपेक्षा क्यों रखते है? और पीत ऐसा भी दीपक तथा श्वेत ऐसा भी चंद्रमा आदि पदार्थ अपने देखे जानेमें अन्य प्रकाशकी अपेक्षा क्यों नहीं रखते है? **भावार्थ**—पदार्थ विचित्र हैं, इस कारण जैसे सोना मोती आदि कितने ही पदार्थ प्रकाशके विना नहीं दीख पड़ते है, और दीपक आदि प्रकाशके विना दीख पड़ते है, उसी प्रकार हम तुम घट आदि पदार्थोंको प्रकाशसे देखते है और तमको विना प्रकाशके ही देखते हैं। इस प्रकार 'तम चाक्षुप है' यह जो हमारा कथन है सो सिद्ध हो गया।

रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते। शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्। यानि त्वनिविडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेपत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिपेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिपेध्यानि। तुल्ययोगक्षेमत्वात्।

और तम रूप [नीलवर्ण) को धारण करता है, इसलिये स्पर्शका धारक भी प्रतीत होता है। क्योंकि, शीत स्पर्शकी प्रतीतिको उत्पन्न करता है अर्थात् ज्यों ज्यों अधिक अधकारमें जाते है त्यों त्यों ठंडापन मालुम पड़ता है। इसलिये तम जैसे-

रूपवाला है, वैसे ही स्पर्शवाला भी है। और जो तमको पौद्गलिक न माननेके लिये वादियोंने " अनिविडावयवत्व (कठोर अवयवपना न होना) १ अप्रतिघातित्व (किसीसे रुकनेवाला न होना) २ अनुद्भूतस्पर्शविशेषत्व (इद्रियोंसे ग्रहण करने योग्य किसी स्पर्शवाला न होना) ३ अप्रतीयमानखडावयविद्रव्यप्रविभागित्व (खडित अवयवीरूप द्रव्यके विभागकी प्रतीतिका न होना) ४ इत्यादि साधन दिये है " इनका प्रदीपकी प्रभाके दृष्टातसे खडन कर देना चाहिये। क्योंकि, तुल्ययोगक्षेम है। भावार्थ—जैनी तो तमको पुद्गलका पर्याय मानते है और वैशेपिक कहते है कि, तम पौद्गलिक नहीं है। क्योंकि, "प्रथम तो जो पौद्गलिक होता है, उसके अवयव लोह वगेरहके समान कठोर होते है। और तमके अवयव कठोर नहीं है। दूसरे पौद्गलिक पदार्थ किसीके आडे आजानेसे रुक जाता है। और तम किसीसे रुकता नहीं है। तीसरे पौद्गलिक पदार्थका स्पष्ट रीतिसे स्पर्श होता है। और तमका स्पर्श नहीं होता है। चौथे पौद्गलिक पदार्थके अवयवीके खड भी होते है। जैसे, कि, वस्त्र आदिके खड होते हैं। परतु तमके खड (टुकडे) नहीं होते है। " इनका खडन जैनी इस प्रकार करते है कि, तुमने जो दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानी है, उसमें भी जो गुण तममें नहीं है वे नहीं है। इसलिये जैसे तुमने प्रदीपकी प्रभाको पौद्गलिक मानी है, उसी प्रकार तुमको तम भी पौद्गलिक मानना चाहिये।

न च वाच्य तैजसा परमाणव कथ तमस्त्वेन परिणमन्त इति। पुद्गलाना तत्तत्सामग्रीसहकृताना विसदृशकार्योत्पादकत्वस्यापि दर्शनात्। दृष्टो ह्यार्द्रेन्धनसयोगवशाद्भास्वररूपस्यापि वह्नेरभास्वररूपधूमरूपकार्योत्पादः। इति सिद्धो नित्याऽनित्य प्रदीप। यदापि निर्वाणादर्वाग् देदीप्यमानो दीपस्तदापि नवनवपर्यायोत्पादविनाशभात्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्याऽनित्य एव।

और 'तेजके परमाणु तम रूप कैसे परिणम गये? अर्थात् अधकार रूप कैसे हो गये?' ऐसी शका न करनी चाहिये। क्योंकि, उन उन सामग्रियों सहित जो पुद्गल है, उनके असमान कार्यकी उत्पत्ति भी देखते हैं। अर्थात् सहकारी कारणोंके मिलनेपर पुद्गलोंसे विसदृश काय भी उत्पन्न होते है। यह नियम नहीं है कि, तेजके परमाणुओंसे तेजरूप ही दूसरा कार्य हो। क्योंकि, गीले इधनके सयोगके वशसे भास्वर (प्रकाशमान) स्वरूपका धारक जो अग्नि है, उससे अभास्वर (काति रहित)

ऐसे धूमरूप कार्यकी उत्पत्ति देखते है। भावार्थ—जैसे गीले इंधनके संयोगसे अग्नि धूमको उत्पन्न करता है। उसी प्रकार सामग्रीविशेपसे तेजके परमाणु भी तमको उत्पन्न करते है। इस प्रकार दीपकमें नित्य तथा अनित्य ये दोनों धर्म सिद्ध हुए। और बुझनेके पहले जब कि जलता हुआ दीपक है, उसमें भी नये नये पर्यायोंकी उत्पत्ति तथा नाश होनेसे अनित्यत्व है। और उन सभी पर्यायोंमें दीपकका संबंध है, इसलिये नित्यत्व है। इस प्रकार दीपकमें नित्य और अनित्यरूप दोनों ही धर्म रहते है॥

एवं व्योमाप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्नित्याऽनित्यमेव। तथा हि–अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह एव तल्लक्षणम्।"अवकाशदमाकाशम्" इति वचनात्। यदा चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विस्रसातो वा एकस्मान्नभःप्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन्प्रदेशे विभागः उत्तरस्मिंश्च प्रदेशे संयोगः। संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्म्मौ, तद्भेदे चावश्यं धर्म्मिणो भेदः। तथा चाहुः "अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्म्माध्यासः कारणभेदश्चेति"। ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्। उत्तरसंयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्। उभयत्राकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम्।

इसी प्रकार उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य (स्थिरता) स्वरूप होनेसे आकाश भी नित्य और अनित्य, इन दोनों धर्मोंका ही धारक है। तथाहि–'अवकाशको देनेवाला आकाश है' इस वचनसे 'आकाशके भीतर रहनेवाले जो जीव तथा पुद्गल है, उनको स्थान देकर, उनका उपकार करना' यही आकाशका लक्षण है। और जब उसमें रहनेवाले जीव तथा पुद्गल किसी दूसरेकी प्रेरणासे अथवा अपने स्वभावसे एक आकाशके प्रदेशसे दूसरे आकाशके प्रदेशमें गमन करते है, तब उस आकाशका उन रहनेवाले जीव और पुद्गलोंके साथ एक प्रदेशमें तो विभाग (वियोग) होता है। और दूसरे प्रदेशमें संयोग होता है। भावार्थ—लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है, इसलिये जब इसके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जीव पुद्गल जाते है, तब आकाशके

१ उपकारः। २ पुरुषशक्तितः। ३ स्वभावतः। ४ प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः। ५ अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः। ६ उभयथा भेदो वस्तूनां लक्षणभेदात्कारणभेदाच्चेति। अयमेव हि घटपटयोर्भेदो यज्जलाहरणादिशीतत्राणादिविरुद्धधर्माध्यासः॥ अयमेव हि भेदहेतुर्वा यन्मृत्पिण्डादितन्त्वादिकारणभेदः।

एक प्रदेशमें विभाग और दूसरेमें सयोग होता हे । और सयोग तथा विभाग ये दोनों परस्पर विरोध रखनेवाले धर्म हैं । अर्थात् जहा सयोग रहता है, वहा विभाग, नहीं रह सकता हे और जहा विभाग रहता है, वहा सयोग नहीं रह सकता हे । इसलिये जब कि, सयोग और विभागमें भेद हुआ अर्थात् सयोग जुदा और विभाग जुदा रहा तो धर्मी (इन दोनों सयोग और विभाग रूप धर्मोंको धारण करनेवाला) जो आकाश है, उसके भी अवश्य ही भेद हुआ । सो ही कहा है कि, जो " विरुद्ध धर्मोंका रहना हे, सो तो भेद है ओर जो भिन्न २ कारणोका होना हे, वही भेदका कारण है । भावार्थ—पदार्थोंका लक्षणके भेदसे अथवा कारणके भेदसे भेद होता हे । जेसे घट ओर पटमें यही भेद है कि, घट तो जल लाने आदिरूप धर्मोंको धारण करता हे ओर पट (वस्त्र) शीतसे बचाने आदिरूप धर्मोंको धारण करता हे । और यही इन दोनोंमें भेद कारण है कि, घट तो मृत्तिकाके पिंड आदिरूप कारणोंसे उत्पन्न होता है और पट ततु आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है । और जब धर्मोंके भेदसे धर्मीमें भेद हुआ, तो, वह आकाश पूर्वपदार्थका जो सयोग था उस सयोगके विनाशरूप परिणामको धारण करनेसे नष्ट हुआ और दूसरे प्रदेशमें जो पुद्गलका सयोग हुआ इस कारण उस सयोगके उत्पाद (उत्पत्ति) नामक परिणामको अनुभव न (धारण) करनेसे वह आकाश उत्पन्न हुआ । और आकाश द्रव्य उन दोनों विनाश और उत्पादरूप अवस्थाओंमें द्रव्यरूपसे अनुगत (चला आ रहा) है अर्थात् विद्यमान है, उसका नाश नहीं हुआ है, इसलिये उत्पाद और व्यय इन दोनोंका एक आकाश ही अधिकरण अर्थात् रहनेका स्थान है ॥

तथा च "यदप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूप नित्यम्" इति नित्यलक्षणमाचक्षते तदपास्तम्। एवविधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात्। "तद्भावाऽव्यय नित्यम्।" इति तु सत्यं नित्यलक्षणम्। उत्पादविनाशयो सद्भावेऽपि तद्भावादन्वयिरूपाद्यन्न व्येति तन्नित्यमिति तदर्थस्य घटमानत्वात्। यदि हि अप्रच्युतादिलक्षण नित्यमिष्यते तदोत्पादव्यययोर्निराधारत्वप्रसङ्ग । न च तयोर्योगे नित्यत्वहानि । "द्रव्य पर्यायवियुत पर्याया द्रव्यवर्जिता । क कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा । १ ।" इति वचनात्। न चाकाश न द्रव्यम्।

---

१ नित्यत्वाधस ।

और इस पूर्वोक्त कथनसे " जो कभी अपने स्वरूपसे गिरै नहीं, अर्थात् नष्ट न हो, उत्पन्न न हो और स्थिर एकरूप रहै, वह नित्य है " ऐसा जो वादियोंने नित्यका लक्षण कहा है, उसका खंडन होगया। क्योंकि, जिसका नाश और उत्पाद न हो और सदा स्थिर एक रूप रहै, ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है। और जैनतत्त्वार्थसूत्रकारने "**तद्भावाव्ययं नित्यम्**" (पदार्थके स्वभावका जो नाश न होना है, सो नित्य है) यह जो नित्यका लक्षण कहा है, वह तो सत्य है। क्योंकि, 'उत्पाद और विनाशके होनेपर भी संबंधित स्वरूप जो पदार्थका भाव (स्वरूप) है उससे जो नष्ट न हो अर्थात् रहित न हो, वह नित्य है' यह जो नित्यका अर्थ है, वह पदार्थोंमें घटता हुआ है अर्थात् सिद्ध है। और यदि वादियोंका माना हुआ जो अप्रच्युत आदि पूर्वोक्त लक्षणका धारक नित्य है, उसको स्वीकार किया जाय तो उत्पाद और व्ययके निराधारताका प्रसंग हो जावे अर्थात् उत्पाद और व्ययका कोई भी पदार्थ आधार न रहै। और हम जो उत्पाद तथा व्ययका पदार्थमें संयोग मानते हैं, उससे पदार्थकी नित्यतामें कोई हानि नहीं होती है। क्योंकि, " पर्यायके विना द्रव्य और द्रव्यके विना पर्याय किसीने किसी समय किसी स्थलमें किसी रूपवाले किसी प्रमाणसे भी नहीं देखे हैं " अर्थात् कोई भी कहीं भी किसी भी प्रमाणसे पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्याय नहीं देख सकता है। १। ऐसा जैनशास्त्रोंका वचन है। और आकाश द्रव्य नहीं है ऐसा नहीं है, अपि तु है ही है।

लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्याऽनित्यत्वम्। घटाकाशमपि हि यदा घटापगमे पटेनाक्रान्तं तदा पटाकाशमिति व्यवहारः। न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्। नभसो हि यत्किल सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत्तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिणामवशात्कल्पितभेदं सत्प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवह्रियमाणं घटाकाशपटाकाशादितत्तद्व्यपदेशनिबन्धनं भवति। तत्तद्घटादिसम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तरापत्तिस्ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदस्तासां ततोऽविष्वग्भावात्। इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः।

तथा जैनी ही आकाशको नित्य-अनित्य मानते हैं, ऐसा नहीं है। क्योंकि, लौकिक अर्थात् सर्वसाधारण जन हैं, उनके भी " यह घटका आकाश है, यह पटका आकाश है" ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है। इस लिये वे भी आकाशको नित्यानित्य ही मानते हैं। क्योंकि घटका आकाश जब घटके दूर होजानेपर पटसे युक्त होता है, तब पटाकाश ऐसा व्यवहार होता है। और यह व्यवहार उपचारसे

उत्पन्न हुआ हे इस कारणसे अप्रमाण हे, यह भी तुम नहीं कह सकते हो। क्योंकि, जो उपचार होता हे, वह भी किसी न किसी साधर्म्यद्वारा मुख्य अर्थको स्पर्श करनेवाला होता हे अर्थात् मुख्य अर्थके अनुकूल ही प्रवर्त्तता है। क्योंकि, आकाशका जो सर्वव्यापक (सबमें फेल कर रहने) रूप मुख्य परिमाण है, वह उसमें रहनेवाले जो घट पट आदि है, उन घटपटादिकसे सबध रखनेवाला जो नियत परिमाण हे, उसके वशसे भेदकी कल्पनाको प्राप्त होकर, उन प्रतिनियत घट आदि देशोमें व्यापीपनेसे व्यवहारमें लाया जाता हे, तब घटाकाश, पटाकाश आदि व्यवहारोका कारण होता हे। ओर व्यापकरूपसे स्थित जो आकाश है, उसके भी उन २ घटपट आदिका सबध होनेपर एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाकी प्राप्ति होती हे। ओर जब अवस्थाका भेद हुआ तो उन अवस्थाओंका धारक जो आकाश हे उसका भी भेद हुआ। क्योंकि, वे अवस्थायें आकाशसे व्याप्त (अभिन्न) होकर रहती है। इसप्रकार आकाशमें नित्य तथा अनित्य ये दोनों धर्म सिद्ध हुए ॥

स्वायभुवा अपि हि नित्याऽनित्यमेव वस्तु प्रपन्ना । तथा चाहुस्ते–त्रिविध खल्वय धर्म्मिण परिणामो धर्म्मलक्षणावस्थारूपः। सुवर्ण धर्म्मि। तस्य धर्म्मपरिणामो वर्द्धमानरुचकादि । धर्म्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादि । यदा खल्वय हेमकारो वर्द्धमानक भङ्क्त्वा रुचकमारचयति तदा वर्द्धमानको वर्तमानताऽनागतत्वादि लक्षण हित्वा अतीततालक्षणमापद्यते। रुचकस्तु अनागततालक्षण हित्वा वर्तमानतामापद्यते । वर्तमानतापन्न एव रुचको नवपुराणभावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति। सोऽय त्रिविध परिणामो धर्म्मिण । धर्म्मलक्षणावस्थाश्च धर्म्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च। तथा च ते धर्म्यभेदात्तन्नित्यत्वेन नित्या । भेदाच्चोत्पत्तिविनाशविषयत्वम्। इत्युभयमुपपन्नमिति।

साख्यमतवालोंने भी पदार्थको नित्य तथा अनित्य ही माना हे । सो ही वे साख्य कहते है, कि–"धर्मीका जो परिणाम है, वह धर्म १ लक्षण २ ओर अवस्था ३ इन भेदोंसे तीन प्रकारका है। जेसे कि, सुवर्ण धर्मी है। उस सुवर्णका जो वर्द्धमान (प्याला) तथा रुचक (कठा) आदि पर्याय है, वह धर्मीका धर्मपरिणाम १ हे। ओर धर्मका जो भविष्यत् काल आदिमें होना हे, वह

१ साङ्ख्या । २ ग्रीवाभरणं ॥

धर्मीका लक्षणपरिणाम २ है। अर्थात् जब यह सुवर्णकार (सोनी) वर्द्धमानको तोडकर रुचक बनाता है, तब वर्द्धमान वर्त्तमानता (विद्यमानपने रूप) लक्षणको त्याग कर अतीतता (हो चुकनेरूप) लक्षणको प्राप्त होता है । और रुचक अनागतता (होनेवाले रूप) लक्षणको छोड़कर, वर्तमानता लक्षणको ग्रहण करता है । और वर्त्तमानताको प्राप्त जो रुचक है, वही नयेपनेको तथा पुराणेपनेको धारण करता हुआ धर्मीके अवस्थापरिणामवाला होता है। वह जो यह तीन प्रकारका परिणाम है, सो धर्मीका है। और धर्म, लक्षण, तथा अवस्था ये तीनों धर्मीसे भिन्न भी है तथा अभिन्न भी है । तथा वे धर्म लक्षण और अवस्थारूप परिणाम धर्मीसे अभिन्न है, इस कारण धर्मीकी नित्यतासे नित्य है। और धर्मीसे भिन्न होनेके कारण उत्पत्ति तथा विनाशके विषय है। अर्थात् अनित्य है । **भावार्थ**—सांख्यमतवाले पदार्थके पर्यायोंको धर्म मानते है। पर्यायोंमें जो कालका परिवर्तन है, उसको लक्षण कहते है। और वर्त्तमानपर्यायमें जो नया पुराणापन होता है, उसको अवस्था कहते है। ये तीनों किसी अपेक्षासे पदार्थसे अभिन्न होनेके कारण नित्य है। और किसी अपेक्षासे पदार्थसे भिन्न है, इसलिये अनित्य है । इस प्रकार पदार्थमें नित्य तथा अनित्य ये दोनो धर्म सिद्ध होते है ।

अथोत्तरार्द्धं विव्रियते। एवं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तद्वस्तु एकमाकाशात्मादिकं नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपघटादिकमनित्यमेव। इत्येवकारोऽत्रापि सम्बध्यते। इत्थं हि दुर्नयवादापत्तिः। अनन्तधर्म्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादिधर्म्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्म्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नया इति तल्लक्षणात्। इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विषतां भवत्प्रणीतशासनविरोधिनां प्रलापाः प्रलपितान्यसम्बद्धवाक्यानीति यावत्।

अब काव्यके उत्तरार्धकी व्याख्या करते है। इस पूर्वोक्त प्रकारसे सब पदार्थोंके उत्पाद विनाश और ध्रौव्य स्वरूपता सिद्ध होने पर भी 'तत्' वह '**एकं**' आकाश, आत्मा आदि एक प्रकारके पदार्थ '**नित्यं**' नित्य '**एव**' ही है । और '**अन्यत्**' दीपक, घट आदि दूसरे पदार्थ '**अनित्यं**' अनित्य '**एव**' ही है। [यहां नित्यके साथ जो '**एव**' पद लगाया गया है, वह अनित्यके साथ

१ निरशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूय समासेदुषा वस्तूना नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुताः सङ्गिनः। औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नयाश्चेदेकांशकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युः सदा दुर्णयाः। १। इति नयदुर्नययोर्लक्षणम्। २ वज्रकक्षाः ३ प्रकारेण।

भी लगाया जाता है] और इस प्रकार माननेमें दुनयवादकी प्राप्ति होती है। क्योंकि, "अनन्तधर्मस्वरूप जो वस्तु है, उसमें विद्यमान अन्य सब धर्मोंको दूर करके प्रवर्त्त होते हुए और अपने अभीष्ट जो नित्यत्व आदि रूप एक धर्म है, उसको सिद्ध करनेमें तत्पर ऐसे जो नय है, वे दुर्नय है।" यह उन दुर्नयोका लक्षण है। 'इति' इस प्रकारसे "त्वदाज्ञाद्विषता" आपके कहे हुए मतसे विरोध रखनेवाले वादियोंके 'प्रलापा.' सबधरहित वाक्य (बकवाद) है॥

अत्र च प्रथममादीपमिति परप्रसिद्ध्याऽनित्यपक्षोल्लेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासख्यपरिहारेण पूर्वतर नित्यमेवैकमित्युक्तम्। तदेव ज्ञापयति यदनित्य तदपि नित्यमेव कथचित्, यच्च नित्य तदप्यनित्यमेव कथचित्। प्रकान्तवादिभिरप्येकस्यामेव पृथिव्या नित्याऽनित्यत्वाभ्युपगमात्। तथा च प्रशस्तकार[1] –"सा तु द्विविधा नित्याऽनित्या च। परमाणुलक्षणा नित्या। कार्यलक्षणा[2]त्वनित्या इति।

यहा पर आचार्यने श्लोकके पूर्वार्धमें "आदीप" इत्यादिसे वादियोंकी प्रसिद्धिसे (वादियोके मतके अनुसार) पहले अनित्य पक्षका कथन किया है। तो भी उत्तरार्धमें क्रमका उल्लघन करके पहिले वह एक पदार्थ नित्य ही है, इस प्रकार जो नित्य पक्षको कहा है अर्थात् जैसे पूर्वार्धम पहले अनित्य और पीछे नित्यका कथन किया है, इसी प्रकार उत्तरार्धमें भी पहले अनित्य और पीछे नित्य कहना चाहिये था, परतु आचार्यने ऐसा न करके उत्तरार्धमें पहले नित्य और पीछे अनित्य कहा है। सो यह जनाता है, कि, जो अनित्य है, वह भी कथचित् नित्य ही है। और जो नित्य है, वह भी किसी अपेक्षासे अनित्य ही है। क्योकि वैशेषिकोंने भी एक ही पृथिवीमें नित्यत्व तथा अनित्यत्व रूप दोनों धर्म स्वीकार किये है। सो ही वैशेषिक दर्शनपर प्रशस्तभाष्यके बनानेवाले कहते है, कि वह पृथिवी दो प्रकारकी है। एक नित्य और दूसरी अनित्य। इनमें परमाणुरूप जो पृथ्वी है, वह तो नित्य है, और कार्यरूप जो पृथ्वी है, वह अनित्य है।"

न चात्र परमाणुद्रव्यकार्यलक्षणविषयद्वयभेदान्नैकाधिकरण नित्याऽनित्यत्वमिति वाच्यम्। पृथिवीत्वस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्। एवमबादिष्वपीति। आकाशेऽपि सयोगविभागाङ्गीकारात्तैरनित्यत्व युक्त्या प्रतिपन्नमेव।

1 भाष्यकार। 2 द्व्यणुकादिलक्षणा।

तथा च स एवाह–"शब्दकारणत्ववचनात्संयोगविभागौ" इति । नित्याऽनित्यपक्षयोः संवलितत्वमेतच्च लेशतो भावितमेवेति ।

यहां "भाष्यकारनें जो परमाणुद्रव्य और कार्य रूपसे विषयका भेद कहा है अर्थात् नित्यका विषय परमाणुद्रव्यरूप पृथ्वी और अनित्यका विषय कार्यरूप पृथ्वी मानी है । इसकारण नित्य और अनित्य इन दोनों धर्मोंका अधिकरण (पृथ्वीरूप धर्मी) एक नहीं है" ऐसा न कहना चाहिये । क्योंकि, पृथिवीत्वका अव्यभिचार है । अर्थात् पृथिवीत्व जो है, वह परमाणुरूप तथा कार्यरूप दोनों पृथिवियोंमें ही वर्त्तमान है । जल आदिकमें भी उन्होंने इसीप्रकार नित्य तथा अनित्य रूप दोनों धर्म माने है । और सयोग तथा विभागको स्वीकार करनेके कारण उन्होंने आकाशमें भी युक्तिसे अनित्यता मानी ही है । सो ही आकाशमें संयोग और विभागको स्वीकार करनेके लिये प्रशस्तभाष्यकार कहते है कि,–"आकाश शब्दका कारण है, इस वचनसे आकाशमें संयोग और विभाग है ।" और इस कथनसे आकाश नित्य तथा अनित्य इन दोनों पक्षोंमें ही मिला हुआ है अर्थात् नित्य अनित्य रूप है । यह आशय किंचित्मात्र भाष्यकारने प्रकट किया ही है ॥

प्रलापप्रायत्वं च परवचनानामित्थं समर्थनीयम् । वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम् । तच्चैकान्तनित्याऽनित्यपक्षयोर्न घटते । अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः । स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीत, अक्रमेण वा । अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरासम्भवात् । तत्र न तावत्क्रमेण । स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः[1] प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् । समर्थस्य कालक्षेपायोगात् । कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्–न तर्हि तस्य सामर्थ्यम् । अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् । सापेक्षमसमर्थमिति न्यायात् ।

उन वादियोंके वचन प्रलापके समान है, ऐसा जो आचार्यने कहा है. उसका समर्थन इस प्रकार करना चाहिये । "अर्थक्रियाको जो करै वह वस्तु (पदार्थ) है" यह पदार्थका लक्षण है । और वह लक्षण एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य इन दोनो

---

1 परस्परपृथक्भूतानां क्रियाणां ।

पक्षोंमें ही नहीं घटता है। क्योंकि, "जिसका कभी नाश न हो, जो कभी उत्पन्न न हो और सदा एक रूप रहे वह नित्य है"
यह वादियोंके माने हुए नित्यका लक्षण है। यहा हम (जैनी) प्रश्न करते है कि, वह नित्यपदार्थ क्रमसे (सिलसिलेवार अथवा
नवरवार) अर्थक्रियाको करे? अथवा अक्रमसे (बे सिलसिलेसे) अर्थक्रियाको करे? । क्योंकि, परस्पर भिन्नस्वरूपको धारण
करनेवाली जो क्रियायें हैं, वे इन कहे हुए क्रम और अक्रम रूप दो प्रकारोंके सिवाय किसी तीसरे प्रकारसे नहीं हो सकती है।
अब यदि इन दो प्रश्नोंके उत्तरमें वादी यह कहे कि "वह नित्यपदार्थ क्रमसे अर्थक्रियाको करता है" तो यह ठीक नहीं है।
क्योंकि, वह नित्यपदार्थ समर्थ है, इसलिये दूसरे क्षणोंमें होनेवाली जो क्रियायें है, उनको प्रथम क्रियाके समय (प्रथम क्षण)में
ही बलात्कार (जबरदस्ती) से कर सकता है। कारण कि, जो समर्थ है, वह कार्यके करनेमें विलब नहीं करता है। अथवा जो
कार्यके करनेमें विलब करता है, वह असमर्थ है। अब इसपर वादी यह कहै कि जो समर्थ होता है, वह भी उन २ सहकारी
(मददगार) कारणोंके सयोग होने (मिलने) पर ही उस २ अर्थ (प्रयोजन)को करता है तो वह नित्य पदार्थ समर्थ नहीं है,
यही सिद्ध हुआ। क्योंकि, वह नित्य पदार्थ दूसरे सहायकोंकी अपेक्षासहित रहता है, और जो 'दूसरेकी अपेक्षा रखता है, वह
असमर्थ होता है' यह न्याय है ॥

न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते। अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्—तत् किं स भावोऽसमर्थः समर्थो वा। समर्थश्चेत्कि सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते। न पुनर्झटिति घटयति। ननु समर्थमपि बीजमिलाजलानिलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति नान्यथा। तत् किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत न वा। यदि नोपक्रियेत तदा सहकारिसन्निधानात्प्रागिव किं न तदाप्यर्थक्रियायामुदास्ते। उपक्रियेत चेत्सर्हि तैरुपकारोऽभिन्नो भिन्नो वा क्रियत इति वाच्यम्। अभेदे स एव क्रियते। इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता। कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वापत्तेः।

अब यदि वादी यह कहे, कि वह नित्य पदार्थ स्वय (खुद) सहकारी कारणोंकी अपेक्षा नहीं करता है किंतु सहकारीकारणोंके
अभावमें नहीं होता हुआ कार्य ही, उन सहकारियोंकी अपेक्षा करता है। तो हम (जैनी) फिर पूछते हैं कि, वह नित्यपदार्थ
समर्थ है? वा असमर्थ है?। यदि वह समर्थ है तो सहकारीकारणोंके मुख देखनेसे दीन हुए अर्थात् सहकारीकारणोंके विना

'समवायका नियतसंवन्धियोंके साथ संबन्ध नही है' इस कथनसे संबन्धका अभाव आया। अर्थात् उपकार और समवायके भेद माननेमें इन दोनोके संयोगसंबंध तो हो नहीं सकता। क्योंकि वह द्रव्योंके ही होता है और समवाय संबंध मानें तो वह व्यापक है इसलिये नियतसंबंधियोंके साथ उसका संबध नही हो सकता है। इस कारण जो एकान्त नित्य पदार्थ है, वह क्रमसे अर्थक्रियाको नहीं करता है। यह सिद्ध हुआ।

नाप्यक्रमेण। नह्येको भावः सकलकालकलाकलापभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्। कुरुतां वा तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात्। करणे वा क्रमपक्षभावी दोषः। अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाऽभावादवस्तुत्वप्रसङ्गः। इत्येकान्तनित्यात्क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रियाव्यापकानुपलब्धिवलाद्व्यापकनिवृत्तौ निवर्त्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्त्तयति। अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्त्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्त्तयति। इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः।

अब यदि कहो कि नित्य पदार्थ अक्रमसे अर्थक्रियाको करता है तो यह भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि 'एक पदार्थ समस्त कालकी कलाओंमें होनेवाली अर्थ क्रियाओंको एक ही समयमें कर लेता है' यह कथन प्रतीतिमें नही आता है। अथवा पदार्थ एक समयमें अर्थक्रियाओंको करै भी तो हम पूछते है कि, वह पदार्थ दूसरे क्षणमें क्या करेगा। यदि यह कहो कि—पदार्थ दूसरे क्षणमें भी अर्थक्रियाओंको ही करता है। तव तो जो दोप क्रमसे अर्थक्रिया करनेरूप पक्षमें होता है वही यहां भी होगा। अर्थात् प्रथम क्षणमें सब अर्थ क्रियाओंको करके अपनी व्यर्थता न होनेके लिये जो वह दूसरे क्षणमें फिर भी उन्ही अर्थक्रियाओंको करता है इस कारण उस पदार्थके असमर्थताकी प्राप्ति होगी। यदि कहोकि 'वह दूसरे क्षणमें कुछ भी नहीं करता है' तो दूसरे क्षणमें अर्थक्रियाकारित्वका अभाव होनेसे उस नित्य पदार्थके अवस्तुताका प्रसंग होगा। इस प्रकार एकान्तनित्यपदार्थसे क्रम और अक्रम करके व्याप्त जो अर्थक्रिया है, वह व्यापकके न मिलनेसे व्यापकके दूर होनेपर नष्ट होती हुई अपना व्याप्य जो अर्थक्रियाकारित्व है, उसको नष्ट करती है और नाशको प्राप्त होता हुआ जो अर्थक्रियाकारित्व है वह अपनेमें व्याप्य (रहनेवाला) जो सत्त्व है, उसको नष्ट करता है। **भावार्थ—**नित्य पदार्थसे जो अर्थक्रिया होती है, वह या तो क्रम करके हो और या अक्रम करके हो। और नित्यपदार्थसे 'क्रम तथा अक्रम करके अर्थक्रिया होती है, इस विपयका पूर्वोक्त प्रकारसे खंडन हो चुका है। इसलिये

क्रम और अक्रमसे व्याप्त (होनेवाली) जो अर्थक्रिया है, वह क्रम तथा अक्रमरूप व्यापकके न मिलनेसे नष्ट होती है। और अर्थक्रियाके होनेका अर्थक्रियाकारित्व है, इसलिये नष्ट होती हुई अर्थक्रिया अपने व्याप्य अर्थक्रियाकारित्वका नाश करती है। और नष्ट होता हुआ जो अर्थक्रियाकारित्व है, वह अपनेमें व्याप्य (रहनेवाला) जो सत्त्व (वस्तुत्व) है, उसको नष्ट करता है। इसलिये वादियोंका जो पदार्थको एकान्तनित्य माननेरूप पक्ष है, वह युक्तियोंको नहीं सहता।

एकान्ताऽनित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः। अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी। स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थः। देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाऽभावात्। क्रमो हि पौर्वापर्यम्। तच्च क्षणिकस्यासम्भवि। अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिर्देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते। न चैकान्तविनाशिनि सास्ति। यदाहुः—"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः। न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते। १।"

अब बौद्धोंका माना हुआ जो एकान्त अनित्य पक्ष है अर्थात् कितने ही पदार्थोंको सर्वथा अनित्य मानना है, यह भी स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि, जो क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाला है, उसको अनित्य कहते हैं। और वह अनित्यपदार्थ क्रमसे अर्थक्रियाके करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि, देश (स्थान) का किया हुआ और कालका किया हुआ जो क्रम है, उसीका उस अनित्य पदार्थमें अभाव है। भावार्थ—यह इसके पहिले है, यह इसके पीछे है, इस प्रकारके व्यवहाररूप जो पौर्वापर्य है, वही क्रम है और यह क्रम क्षणिक (क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले) पदार्थके नहीं हो सकता है। क्योंकि, स्थिर (नित्य) पदार्थका जो अनेक देशोंमें रहना है, वह तो देशक्रम कहलाता है, और अनेक कालोंमें रहना है, वह कालक्रम कहलाता है। और सर्वथा अनित्यपदार्थके यह अनेक देश तथा कालमें व्याप्ति नहीं है। क्योंकि, बौद्धोंने कहा है कि, "जो पदार्थ जिस स्थानमें है, वह उसी स्थानमें है। और जो पदार्थ जिस क्षणमें रहता है, वह उसीमें रहता है, अन्य क्षणमें नहीं। इस कारण हमारे क्षणिक मतमें पदार्थोंकी देश और कालमें व्याप्ति नहीं है। १।"

न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति। सन्तानस्याऽवस्तुत्वात्। वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाऽक्षणिकत्वं तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः।

अब कदाचित् वादी कहै कि–संतानकी अपेक्षासे पूर्व और उत्तर क्षणोंमें क्रम हो सकता है अर्थात् प्रथम क्षणमें रहनेवाले पदार्थका सतान दूसरे क्षणमें रहता है, इसलिये पूर्वक्षणके और उत्तरक्षणके क्रम हो सकता है। तो यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि, संतान पदार्थ नहीं है । और जो कदाचित् संतानको पदार्थ मान भी लिया जावे, तो हम पूछते है कि, वह संतान क्षणिक है अथवा अक्षणिक (नित्य) है? यदि क्षणिक कहो तब तो संतानमें पदार्थोंसे कोई विशेष (भेद) न हुआ अर्थात् जैसे पदार्थ क्षणिक है, उसी प्रकार संतान भी क्षणिक हुआ तो जैसे क्षणिक होनेसे पदार्थमें क्रम नहीं होता है, वैसे ही सतानमें भी क्रम नहीं होगा। और यदि कहो कि, संतान अक्षणिक है, तो तुम्हारा क्षणभङ्गवाद समाप्त हुआ अर्थात् सतान पदार्थको तुमनें भी नित्य मान ही लिया ।

नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके सम्भवति । सह्येको बीजपूरादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा। यद्येकेन तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यात्। एकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नानास्वभावैर्जनयति, किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किंचिद्रसादिकं सहकारित्वेन, इति चेत्–तर्हि ते स्वभावास्तस्याऽत्मभूता अनात्मभूता वा। अनात्मभूताश्चेत्स्वभावत्वहानिः । यद्यात्मभूतास्तर्हि तस्यानेकत्वम् । अनेकस्वभावत्वात् । स्वभावानां वा एकत्वं प्रसज्येत । तदव्यतिरिक्तत्वात्तेषां, तस्य चैकत्वात् ।

और क्षणिकपदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। क्योंकि, वह एक बीजपूर (बिजोरा) रूप पदार्थ एक ही समयमें अनेक रस आदि पदार्थोंको जो उत्पन्न करता है, सो एक स्वभावसे करता है? वा अनेक स्वभावोंसे करता है? यदि कहो कि, एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, तब तो एक स्वभावसे उत्पन्न होनेके कारण उन रस आदि पदार्थोंके एकता हो जावेगी अर्थात् बीजपूर जिस स्वभावसे रस पदार्थको उत्पन्न करता है, उसी स्वभावसे यदि रूप, गन्ध, स्पर्श आदि पदार्थोंको भी उत्पन्न करैगा, तो रूप, रस, गन्ध आदि सब पदार्थ एक हो जावेगे। क्योंकि वे सब एक स्वभावसे उत्पन्न हुए है [बौद्धमतमें 'क्षण' शब्दसे पदार्थका ग्रहण है और यह इसका धर्म (गुण) है, यह इसका धर्मी (गुणी) है, ऐसा नहीं माना गया है। इसलिये जैसे बीजपूर पदार्थ है, वैसे ही रूप रस आदि भी पदार्थ है ।] अब यदि कहो कि, वह बीजपूर पदार्थ रस आदिको अनेक स्वभावोंसे उत्पन्न

१ बौद्धमते क्षणशब्देन पदार्थसंज्ञा क्षणिकत्वात्क्षणः ॥

करता है अर्थात् किसी रूप आदिको उपादानभावसे उत्पन्न करता है और किसी रस आदि पदार्थको सहकारीभावसे उत्पन्न करता है। भावार्थ—बीजपूर रूप आदिकी उत्पत्तिमें तो स्वय (खुद) उपादानरूपसे रहता है, और रस आदिकी उत्पत्तिमें स्वय सहकारी कारण होकर रहता है, तो हम पूछते है कि, वे उपादान तथा सहकारी आदि भाव उस बीजपूरपदार्थके आत्मभूत (निजस्वरूप) है? अथवा अनात्मभूत (परस्वरूप) है? यदि कहो, कि—अनात्मभूत है, तब तो वे उपादानादिभाव उस बीजपूरपदार्थके स्वभाव ही नहीं है। और यदि कहो, कि— उपादानादिभाव बीजपूरपदार्थके आत्मभूत है, तो अनेक स्वभावरूप होनेसे उस बीजपूरपदार्थके अनेकता हो जावेगी अर्थात् जितने स्वभाव होंगे उतने ही उन स्वभावोंके धारक बीजपूरपदार्थ भी होंगे। अथवा उन स्वभावोंके एकताका प्रसङ्ग होगा। क्योंकि, वे उपादानादिभाव बीजपूरपदार्थसे अभिन्न हे। और बीजपूर एक है।

अथ य एव एकत्रोपादानभाव स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते। तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिण स्वभावभेदः कार्यसाकर्यं च कथमिष्यते क्षणिकवादिना। अथ नित्यमेकरूपत्वादक्रम, अक्रमाच्च क्रमिणा नानाकार्याणा कथमुत्पत्तिरिति चेत्—अहो स्वपक्षपाती देवानाप्रियो य खलु स्वयमेकस्मान्निरशाद्रूपादिक्षणात्कारणाद्युगपदनेककारणसाध्यान्यनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति। तस्मात्क्षणिकस्यापि भावस्याऽक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा।

अब यदि कहो कि, जो स्वभाव एक स्थानमें उपादानभाव होकर रहता हे, वही दूसरे स्थानमें सहकारीभाव हो जाता है, इसलिये हम पदार्थमें स्वभावका भेद नहीं मानते है। तो हमारा (जैनियोंका) माना हुआ जो एक रूप और क्रमसे अर्थक्रिया करनेवाला नित्यपदार्थ है, उसके तुम क्षणिकवादियों (बौद्धों) ने स्वभावका भेद और कार्यसकरत्व कैसे माना हे। भावार्थ—नित्यपदार्थके माननेमें बौद्ध जो यह दोष देते है कि, "यदि नित्य पदार्थ क्रमसे एक स्वभावसे अर्थक्रिया करे, तब तो एक ही समयमें अपने सब कार्य कर लेगा, इस कारण कार्यसकरता (सब कार्योंके अभिन्नता) हो जावेगी। और यदि अनेक स्वभावोंसे अर्थक्रिया करे तो स्वभावका भेद होजानेके कारण उस नित्यपदार्थके क्षणिकताकी प्राप्ति होगी" सो उनका यह दोष देना ठीक नहीं हे। क्योंकि, उन्होंने भी तो एक क्षणिक पदार्थसे उपादान तथा सहकारीभावोंद्वारा अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मानकर स्वभाव भेद नहीं माना है। अब

यदि बौद्ध कहै, कि तुम्हारा माना हुआ नित्य पदार्थ एकरूप होनेसे अक्रम (क्रमरहित) है। और अक्रम पदार्थसे क्रमिक (क्रमसे होनेवाले) अनेक कार्योंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? तो हमको खेद होता है कि, देवानांप्रिय (मूर्ख) बौद्ध अपना पक्षपाती है। क्योंकि, जो स्वयं एक और अंशरहित (क्षणमात्रवर्ती) रूप आदि पदार्थरूप कारणसे अनेक कारणोंद्वारा सिद्ध होने योग्य अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मान करके भी नित्य पदार्थसें क्रमसे नानाकार्योंके करना माननेरूप भी पर (हमारे) पक्षमें विरोधको उत्पन्न करता है। **भावार्थ**—बौद्ध जब निरंश पदार्थ ही से एक क्षणमें क्रमिक अनेक कार्योंका होना मानता है, तब हम जो चिरकालस्थायी नित्यपदार्थसे क्रमद्वारा अनेक कार्योंका होना मानते है, उसमें दोष क्यों देता है। इसकारण सिद्ध हुआ कि क्षणिक पदार्थके भी अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती है।

इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाऽक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियापि व्यावर्तते। तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तते। इत्येकान्ताऽनित्यवादोऽपि न रमणीयः।

इसप्रकार एकान्त अनित्य पदार्थसे भी क्रम अक्रमरूप व्यापककी रहिततासे ही व्याप्य जो अर्थक्रिया है, वह भी दूर होती है। और अर्थक्रियाके दूर होनेपर व्यापककी अप्राप्तिके बलसे ही सत्त्व भी दूर होता है। **भावार्थ**—अर्थक्रिया जो है सो क्रम और अक्रमसे व्याप्त है, और एकान्त अनित्यपदार्थसे क्रम तथा अक्रमद्वारा अर्थक्रिया नही होती है। इसलिये अपने व्यापक जो क्रम अक्रम है, उनके अभावमें क्रम, अक्रमसें व्याप्य जो अर्थक्रिया है, वह दूर होती है। और नष्ट होता हुआ अर्थक्रियारूप व्यापक अपनेसे व्याप्य अर्थक्रियाकारित्वका नाश करता है। एवं अपना व्यापक जो अर्थक्रियाकारित्व है, उसका अभाव होनेसे सत्त्व (वस्तुत्व) भी नष्ट होता है। इस कारण एकान्त अनित्यवाद अर्थात् सर्वथा पदार्थोंको अनित्य मानना भी ठीक नही है।

स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा। न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासाऽयोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम्। नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वैरनुभवात्। तथा च पठन्ति।– "भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः। तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते। १।" इति। वैशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्यावयविनोऽभ्युपगमात्। एक-

स्यैव पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धे , सौगतैरप्येकत्र चित्रपटीज्ञाने नीलानील-योर्विरोधानङ्गीकारात् ।

ओर स्याद्वादमें अर्थात् एक ही पदार्थमें कथचित् नित्यता ओर अनित्यतारूप दोनों धर्मोंको माननेवाले हमारे पक्षमें तो पूव आकारका त्याग करना १, उत्तर आकारका स्वीकार करना २, ओर सर्व अवस्थाओंमें द्रव्यस्वभावसे स्थित रहना ३, इन स्वरूप जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप परिणाम है, उसके माननेसे पदार्थोके अर्थक्रियाकी सिद्धि विरोध रहित है । **शका**—एक पदार्थमें परस्पर विरोध रखनेवाले नित्य और अनित्यरूप दोनों धर्मोका रहना असभव हे, इसकारण तुम्हारा स्याद्वाद मिथ्या है । **समाधान**—ऐसा न कहना चाहिये । क्योंकि, स्याद्वादमें नित्यपक्ष तथा अनित्यपक्षसे भिन्न जो नित्यानित्यरूप तीसरा पक्ष है, वह स्वीकार किया गया है । और पदार्थोंमें इसी प्रकारसे अर्थात् नित्यानित्यरूपतासे ही सबको अनुभव भी होता है । सो ही दिखलाते है ।—"जो एक भागमें सिंह है तथा दूसरे भागमें मनुष्य हे, उस भागरहित पदार्थको विभाग करके नरसिंह कहते है ।१।' **भावार्थ**—नृसिंहावतार शरीरके एक भागमें तो सिंहके समान है, और दूसरे भागमें पुरुषके समान है, इसकारण यद्यपि वह एक ही शरीरमें परस्पर विरुद्ध दो आकृतियोंको धारण करनेसे भाग रहित है, तथापि लौकिकजन विभाग करके उसको नरसिंह कहते है । इसी प्रकार हमारा स्याद्वाद भी है । वैशेषिकोंने भी एक चित्ररूप अवयवी माना है अर्थात् रक्त, पीत, नील आदि अनेक वर्णरूप धर्मोंको धारण करनेवाले एक चित्ररूप पदार्थको जुदा माना हे । ओर एक ही वस्त्र आदि पदार्थके चल (हिलते हुए) अचल (नहीं हिलते हुए) रक्त (लाल) अरक्त (लालरगसे भिन्न) आवृत (ढके हुए) अनावृत (नहीं ढके हुए) आदि परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी प्राप्ति होनेसे बौद्धोंने भी एक चित्र (अनेक) वर्णके धारक वस्त्रके ज्ञानमें नील वर्ण और नीलसे भिन्न--श्वेत, पीत आदि वर्णोंके परस्पर विरोध नहीं माना है ॥ **भावार्थ**—एक ही वस्त्र किसी भागमें तो हिलता रहता है और किसीमें नहीं हिलता हे । एक भागमें लालवर्णको धारण करता है ओर दूसरे भागमें पीतवर्णको धारण करता है । एव एक भागमें किसी दूसरेसे ढका हुआ रहता हे और दूसरेमें खुला हुआ । ऐसा देखे जानेसे बौद्धोंनें एक वस्त्रके ज्ञानमें नील और पीतवर्णका विरोध नही माना है ।

अत्र च यद्यप्यधिकृतवादिन प्रदीपादिक कालान्तरावस्थायित्वात्क्षणिक न मन्यन्ते । तन्मते पूर्वापरान्तावच्छिन्नाया सत्ताया एवानित्यतालक्षणात् । तथापि बुद्धिसुखादिक तेऽपि क्षणिकतयैव प्रतिपन्ना । इति तद-

धिकारेऽपि क्षणिकवादचर्चा नानुपपन्ना । यदापि च कालान्तरावस्थायि वस्तु, तदापि नित्यानित्यमेव । क्षणोऽपि न खलु सोऽस्ति यत्र वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं नास्ति । इति काव्यार्थः ॥ ५ ॥

यद्यपि अधिकृत वादियोंने अर्थात् जिनका हमने यहां खण्डन किया है, उन वैशेपिकोंने एक क्षणके सिवाय अन्य क्षणोमे भी विद्यमान रहनेसे प्रदीप आदि पदार्थोंको क्षणिक नहीं माने है अर्थात् वैशेपिकोंके मतमें प्रदीप आदि बहुत क्षणोंमें रहते है । क्योंकि, उनके मतमे पूर्व और उत्तरके अन्तसे मिली हुई जो सत्ता है अर्थात् जिसका पहिले भी अभाव हो और पीछे भी अभाव हो ऐसी जो पदार्थकी विद्यमानता है, वह ही अनित्यताका लक्षण है । भावार्थ—बौद्ध जैसे सब पदार्थोको क्षणस्थायी होनेसे अनित्य कहते है, उसप्रकार वैशेपिक क्षणस्थायी पदार्थको अनित्य नहीं कहते, किंतु जिसका आदि और अन्त हो उस पदार्थको अनित्य मानते है । तथापि उन वैशेपिकोंने भी बुद्धि, सुख, दुःख आदि पदार्थोंको क्षणिकरूप ही स्वीकार किये है । इसकारण इस वैशेपिकोंके खण्डनमें भी जो हमने क्षणिकवादकी चर्चा कर डाली है, वह अनुचित नहीं है । और जब पदार्थ अन्य क्षणोंमें वर्त्त रहा है, उस समय भी वह पदार्थ नित्य तथा अनित्य, इन दोनों धर्मों रूप ही है । और वह कोई क्षण भी नहीं है कि, जिस क्षणमें पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप न हो अर्थात् सब ही क्षणोंमें पदार्थ उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यरूप लक्षणका धारक है । इसप्रकार काव्यका भावार्थ है ॥ ५ ॥

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमं मिथ्याभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह ।

अब वैशेपिकोंने जो ईश्वरको जगतका कर्त्ता माना है, वह मिथ्या आग्रह रूप है । यह दिखलाते हुए आचार्य अग्रिम काव्यका कथन करते हैं ।

कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥

काव्यभावार्थः—हे नाथ! जिनके आप उपदेशदाता नहीं हैं, उनके "जगतका कोई कर्त्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वाधीन है, और वह नित्य है" ये दुराग्रहरूपी विडंबनायें होती हैं ।

व्याख्या। जगत प्रत्यक्षादिप्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य कश्चिदनिर्वचनीयस्वरूप पुरुषविशेषः कर्त्ता स्रष्टा अस्ति विद्यते। ते हि इत्थ प्रमाणयन्ति—उर्व्वीपर्वततर्वादिक सर्व बुद्धिमत्कर्त्तृक कार्यत्वात्। यद्यत्कार्यतत्तत्सर्व बुद्धिमत्कर्त्तृक यथा घटस्तथा चेद तस्मात्तथा। व्यतिरेके व्योमादि। यश्च बुद्धिमास्तत्कर्त्ता स भगवानीश्वर एवेति।

व्याख्यार्थ.—"जगत" प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंद्वारा जाननेमें आते हुए जो ये चर (जगम) और अचर (स्थावर) रूप तीन जगतके पदार्थ है, इनका "कश्चित्" वचनोंके अगोचर स्वरूपका धारक कोई पुरुषविशेष "कर्त्ता" बनानेवाला "अस्ति" है। वे वैशेषिक इस ऊपर कहे हुए अपने मतको इस निम्नलिखित प्रकारसे प्रमाण कराते है अर्थात् सिद्ध करते है कि, ये पृथिवी, पर्वत और वृक्ष आदि समस्त पदार्थ बुद्धिमानके रचे हुए है। क्योंकि, ये सब कार्य है। जो जो कार्य है, वह वह सब बुद्धिमानका रचा हुआ है। जैसे कि, घट कार्य है और वह बुद्धिमान् कुभकारसे बनाया हुआ है। उसी प्रकार अर्थात् घटके समान ही ये पृथिवी पर्वत आदिक भी कार्य है, इसलिये किसी बुद्धिमानके द्वारा बनाये हुए है। व्यतिरेक दृष्टातमें व्योम आदि है अर्थात् आकाश आदि कार्य नहीं है, इसलिये किसी बुद्धिमानके बनाये हुए भी नही है। और जो कोई बुद्धिमान् इन पृथिवी आदि कार्योंका कर्त्ता है, वह भगवान ईश्वर ही है।

न चायमसिद्धो हेतुर्यतो भूभूधरादे स्वस्वकारणकलापजन्यतया अवयवितया वा कार्यत्व सर्ववादिना प्रतीतमेव। नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा। विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्ट। प्रत्यक्षानुमानागमाबाधितधर्म्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वात्। नापि प्रकरणसम। तत्प्रतिपन्थिधर्मोपपादनसमर्थप्रत्यनुमानाभावात्।

और हमने पृथिवी आदिको ईश्वरके बनाये हुए सिद्ध करनेके लिये जो यह कार्यत्वरूप हेतु दिया है, वह असिद्ध नहीं है। क्योंकि, अपने २ कारणोंके समूहसे उत्पन्न होनेसे अथवा अवयवीपनेसे पृथिवी, पर्वत आदिके कार्यत्व सभी वादियोंने माना है। और विपक्षसे अत्यत भिन्न है, इस कारण यह कार्यत्वहेतु अनैकातिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्ध भी नहीं है। तथा यह कार्यत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) भी नहीं है। क्योंकि, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों प्रमाणोंसे अबाधित अर्थात् सिद्ध ऐसे जो धर्म और धर्मी है, उनके पश्चात् कहा गया है अर्थात् पहले प्रमाणसिद्ध धर्म तथा धर्मीका कथन करके

पीछे इस हेतुको कहा है। एवं यह कार्यत्वहेतु प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) भी नहीं है। क्योकि, इसके प्रतिकूल धर्मको अर्थात् जिस कर्तृत्वधर्मको यह कार्यत्वहेतु सिद्ध करता है, उस कर्तृत्वधर्मसे प्रतिकूल जो अकर्तृत्व धर्म है, उसको सिद्ध करनेमें समर्थ कोई प्रत्यनुमान नहीं है।

न च वाच्यमीश्वरः पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधाता न भवति । अशरीरत्वात् । निर्वृत्तात्मवत् । इति प्रत्यनुमानं तद्बाधकमिति । यतोऽत्रेश्वररूपो धर्म्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः । न तावदप्रतीतो हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात् । प्रतीतश्चेद्येन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितस्वतनुर्न प्रतीयते । इत्यतः कथमशरीरत्वम् । तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति ।

शंका—" ईश्वर जो है, सो पृथ्वी, पर्वत आदिका कर्त्ता नहीं हो सकता है। क्योंकि, शरीररहित है। मुक्त आत्माके समान अर्थात् जैसे मुक्त आत्मा शरीररहित होनेसे पृथिवी आदिका कर्त्ता नही होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अशरीर है, इसकारण पृथिवी आदिका कर्त्ता नहीं हो सकता है।" यह प्रत्यनुमान जगत्रूप धर्मीमें ईश्वरकर्तृत्व धर्मका बाधक है। **समाधान—** यह न कहना चाहिये। क्योंकि, " ईश्वर पृथिवी आदिका कर्त्ता नहीं हो सकता है " इत्यादि इस अनुमानके प्रयोगमें तुमने जो ईश्वररूप धर्मीका कथन किया है, सो प्रतीत है? वा अप्रतीत है? यदि कहो कि, अप्रतीत (नहीं जाने हुए) ईश्वर धर्मीका कथन किया है, तब तो हेतुके आश्रयासिद्धि दोपका प्रसग आवैगा अर्थात् जब धर्मी ही अप्रतीत है, तब अशरीरत्व हेतु किसमें रहैगा। और यदि कहो कि,—हमने प्रतीत (जाने हुए) ईश्वरधर्मीका निरूपण किया है, तो जिस प्रमाणसे तुमने उस ईश्वरको जाना है, उसी प्रमाणसे तुम उस ईश्वरको स्वयं (अपने आप ही) उत्पन्न किये हुए शरीरका धारक भी क्यो नहीं जान लेते हो अर्थात् जिस प्रमाणसे तुमने ईश्वर जाना है, उसी प्रमाणसे तुम यह भी मान लो कि, ईश्वरने स्वय अपना शरीर बनाकर फिर जगतको बनाया है। और जब ईश्वरको शरीरका धारक मानलिया, तब अशरीरपना कहां रहा? इस कारण हमने जो कार्यत्वहेतु दिया है, वह निर्दोष ही है। **भावार्थ—**असिद्ध, १ विरुद्ध, २ अनैकान्तिक, ३ कालात्ययापदिष्ट ४ और सत्प्रतिपक्ष ५ ये जो पांच हेतुके दोष है, इनमेंसे हमारे कहे हुए कार्यत्वहेतुमें कोई भी दोष नहीं है, इस कारण ईश्वर जगतका कर्त्ता है। यह सिद्ध हो गया।

स चैक इति । च पुनरर्थे । स पुन पुरुषविशेष एकोऽद्वितीय । वहूना हि विश्वविधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतिसभावनाया अनिवार्यत्वादेकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येत । इति ।

"च" [यहा 'च' पुन के अर्थमे है] फिर "सः" वह पुरुषविशेष जो है सो "एक." एक हे अर्थात् उसके सिवाय ओर कोई दूसरा जगतका कर्ता नहीं हे । यदि वहुतोंको जगतके कर्त्ता मानें तो उनके परस्पर समति (सलाह) में भेद (फरक) होनेकी सभावना नहीं रुक सक्ती हे, इस कारण एक एक वस्तुकी अन्य अन्य प्रकारसे रचना होने पर सब अनुचित हो जावे । भावार्थ—यदि वहुतसे पुरुष विशेषोको जगतके कर्त्ता मानें तो उनके परस्पर मतिभेद हो जावेगा ओर उस मतिभेदके होने पर कोई तो एक वस्तुको अन्य प्रकारसे बनावेगा ओर कोई उसी एक वस्तुको दूसरे प्रकारसे वनावेगा ओर ऐसा होने पर सब अनुचित हो जायगा अर्थात् घुटाला होनेसे किसी भी वस्तुकी स्वरूपव्यवस्था न होगी ॥

तथा स सर्वग इति । सर्वत्र गच्छतीति सर्वग सर्वव्यापी । तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्तित्वेऽनियतदेशवृत्तीना विश्वत्रयान्तर्वर्त्तिपदार्थसार्थाना यथावन्निर्माणानुपपत्ति । कुम्भकारादिपु तथा दर्शनात् । अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वग सर्वज्ञ । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् । सर्वज्ञत्वाऽभावे हि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वादनुरूपकार्योत्पत्तिर्न स्यात् ।

तथा फिर "स॰" वह पुरुषविशेष "सर्वग॰" सब जगह गमन करनेवाला अर्थात् सर्वव्यापी (सब पदार्थोंमें रहनेवाला) हे । क्योंकि, यदि उसको प्रतिनियतदेशवर्त्ती अर्थात् किसी एक नियमित (मुकर्रर) स्थानमें रहनेवाला मानें तो उसके अनियमितस्थानोंमें रहनेवाले ऐसे जो तीनों लोकोमें स्थित पदार्थोंके समूह है, उनको यथावत् रीतिसे (भले प्रकारसे) बनानेकी सिद्धि न होगी अर्थात् वह भिन २ स्थानोंमें स्थित पदार्थोंको यथार्थरीतिसे न वना सकेगा । क्योंकि, कुभकार आदिमें ऐसा देखा जाता है अर्थात् जहा कुभकार स्थित हे, वहा ही वह घट बनाता है । अथवा वह "गतिरूप अर्थके धारक सब धातु ज्ञानरूप अर्थके धारक भी है, " इस वचनसे सर्वग अर्थात् सर्वज्ञ (सबको जाननेवाला) हे । क्योंकि, यदि वह पुरुषविशेष सर्वज्ञ न हो तो यथायोग्य उपादान कारणोंको न जाननेसे उसके द्वारा योग्य कार्योंकी उत्पत्ति न होगी अर्थात् असर्वज्ञतासे ईश्वरके 'किन २ उपादान कारणोंसे

कौन २ से कार्य होते है ' इस विषयक ज्ञान न होगा और उस ज्ञानके न होनेसे जगतमें जो ये योग्यकार्य देखनेमें आते है, इनको वह ईश्वर उत्पन्न न कर सकेगा ।

तथा स स्ववशः स्वतन्त्रः । सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात् । तथा चोक्तम्—"ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा । अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । १ ।" इति । पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघातादनीश्वरत्वापत्तिः ।

तथा फिर " सः " वह " स्ववशः " स्वतंत्र अर्थात् स्वाधीन है । क्योंकि, वह ईश्वर अपनी इच्छानुसार सब प्राणियोंको सुख और दुःखका अनुभव करानेमें समर्थ है अर्थात् अपनी इच्छासे सबको सुख तथा दुःख देता है । सो ही कहा भी है कि,— " यह जीव ईश्वरका भेजा हुआ ही स्वर्गको अथवा नरकको गमन करता है । क्योंकि, ईश्वरके सिवाय जो अन्य जीव है, वे अपने सुख और दुःखको उत्पन्न करनेमें समर्थ नही है । १ । " यदि उस ईश्वरको परतंत्र (पराधीन) मानें तो वह ईश्वर जगतके बनानेमें दूसरोंका मुख देखेगा अर्थात् दूसरोंकी आज्ञा लेकर कार्य करैगा इस कारण उसके मुख्यकर्त्तापनेका नाश होनेसे अनीश्वरता हो जावेगी अर्थात् मुख्यकर्त्ता न रहनेसे ईश्वर ईश्वर न रहैगा ।

तथा स नित्य इति । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः । तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृतकत्वप्राप्तिः । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते । यश्चापरस्तत्कर्त्ता कल्प्यते स नित्योऽनित्यो वा स्यात् । नित्यश्चेदधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यश्चेत्तस्याप्युत्पादकान्तरेण भाव्यम् । तस्यापि नित्यानित्यत्वकल्पनायामनवस्थादौस्थ्यमिति ।

तथा " सः " वह पुरुषविशेष " नित्यः " नित्य है अर्थात् अप्रच्युत (अविनाशी) अनुत्पन्न (उत्पत्तिसे रहित) और स्थिरैकरूप (निश्चल एक स्वभावका धारक) है । क्योंकि, यदि ईश्वरको अनित्य मानेगे तो परसे उत्पन्न होनेके कारण वह ईश्वर कृतक होजावेगा । कारण कि, जो पदार्थ अपने स्वरूपकी सिद्धिमें अन्य पदार्थके व्यापारकी अपेक्षा रखता है अर्थात् निजको सिद्धकरनेके लिये दूसरेकी सहायता चाहता है, वह कृतक कहलाता है । और जो तुम किसी दूसरेको ईश्वरका कर्त्ता मानो, तो हम प्रश्न करते हैं कि, 'वह ईश्वरका कर्त्ता नित्य है ? वा अनित्य है ? यदि कहो कि, नित्य है, तब तो हमारे माने हुए इस ईश्वरने क्या

अपराध किया है अर्थात् तुम ईश्वरके कर्त्ताको नित्य न मानकर ईश्वरको ही नित्य क्यों नहीं मानलेते हो। यदि कहो कि, ईश्वरका कर्त्ता अनित्य है, तो ऐसी दशामें उस ईश्वरके कर्त्ताको बनानेवाला भी कोई दूसरा होना चाहिये और उसका भी कोई अन्य। इस प्रकार नित्य तथा अनित्य रूप विकल्पोंकी कल्पना करनेमें अनवस्था नामक दोष कभी दूर न होगा।

तदेवमेकत्वादिविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगत्कर्त्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्योत्तरार्द्धेन तस्य दुष्टत्वमाचष्टे। इमा एता अनन्तरोक्ता कुहेवाकविडम्बना कुत्सिता हेवाका आग्रहविशेषा कुहेवाका कदाग्रहा इत्यर्थस्त एव विडम्बना विचारचातुरीबाह्यत्वेन तिरस्काररूपत्वाद्विगोपकप्रकारा स्युर्भवेयुस्तेषा प्रामाणिकापसदाना येषा हे स्वामिन् त्व नानुशासको न शिक्षादाता।

सो इस प्रकार एकत्वादि विशेषणोंका धारक जो भगवान ईश्वर है, वही तीन जगतका कर्त्ता है। इस पूर्वोक्त प्रकारसे आचार्य श्लोकके पूर्वार्द्धद्वारा वैशेषिकोंके मतको दिखाकर अब उत्तरार्द्धसे उस वैशेषिकमतकी दुष्टताका कथन करते है। “इमा” ये ऊपर कही हुई “कुहेवाकविडम्बना” खोटे आग्रहरूप विडम्बनायें अर्थात् विचारकी चतुरतासे रहित होनेके कारण तिरस्कार रूप होनेसे अपने दोषोंको छिपानेके प्रकार उन अधम न्यायवेत्ताओंके (वैशेषिकोंके) “स्यु” होवें। “येषा” जिनके हे स्वामिन्! “त्व” आप “अनुशासक” शिक्षा देनेवाले “न” नही हो। भावार्थ—हे भगवन्! आपकी आज्ञासे प्रतिकूल वैशेषिकोने जो विना समझे ईश्वरको जगत्का कर्त्ता मान लिया है, उस दोषको छिपानेके लिये ही उन्होने ये एकत्व आदि विशेषण दिये हैं।

तदभिनिवेशाना विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरुषविशेषणेषु प्रत्येक तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमाविर्भावयाश्चकार स्तुतिकार। तथा चैवमेव निन्दनीय प्रति वक्तारो वदन्ति। स मूर्ख, स पापीयान्, स दरिद्र इत्यादि। त्वमित्येकवचनसयुक्तयुष्मच्छब्दप्रयोगेण परमेशितु परमकारुणिकतयाऽनपेक्षितस्वपरपक्षविभागमितरशास्तॄणामसाधारणमद्वितीय हितोपदेशकत्व ध्वन्यते।

स्तुतिके कर्त्ता आचार्यने वैशेषिकोंके अभिप्रायोंको विडम्बनारूप विदित करनेके लिये ही उनके अभीष्ट जो ईश्वरके विशेषण हैं, उनमें प्रत्येक विशेषणके साथ ईर्षाके धारक ‘तत्’ इस शब्दका प्रयोग किया है। और निन्दाकरनेयोग्य पुरुषके प्रति

कहनेवाले वह मूर्ख है, वह महापापी है, वह दरिद्री है, इत्यादि इसी प्रकार प्रत्येक विशेषणके साथ तत्शब्दको व्यवहारमे लाते है। और 'त्वं' इस एकवचनके धारक युष्मत्शब्दका प्रयोग करनेसे आचार्य परमेश्वर श्रीजिनेन्द्रके परमदयालुताके कारण निज और पर पक्षकी भेदभावनाकी अपेक्षाके विना अन्य उपदेशकोंमें न होनेवाला ऐसा जो अद्वितीय हितोपदेशकपना है, उसको ध्वनित करते है। **भावार्थ**—स्तुतिमें युष्मत् शब्दका एकवचन देकर आचार्यने यह दर्शाया है कि, जैसे अन्य उपदेशक पक्षपाती होकर अपने मतवालोंको तो उपदेश देते है, और अन्य मतवालोंको नहीं देते है। उसप्रकार श्रीजिनेन्द्र पक्षपाती नहीं है, किंतु परमकरुणाबुद्धिसे सभीको समान हितोपदेश देनेसे अद्वितीय उपदेशक है।

अतोऽत्रायमाशयः। यद्यपि भगवानविशेषेण सकलजगज्जन्तुजातहितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे। तथापि सैव केषांचिन्निचितनिकाचितपापकर्मकलुपितात्मनां रुचिरूपतया न परिणमते। [1]अपुनर्वन्धकादिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात्। तथा च कादम्बर्यां बाणोऽपि बभाण—"अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगणाः। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य" इति। अतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भगवाननुशासक इति।

इस कारण यहां पर यह भाव है कि, यद्यपि भगवान् अविशेषसे अर्थात् समानरूपसे सभीके लिये संपूर्ण जगत्के जीवोंका भला करनेवाले उपदेशवचनको कहते है। तथापि वही उपदेशरूपवचन पूर्वकालमें उपार्जन कियेहुए निकाचित-पापकर्मोंसे मलीन है आत्मा जिनका ऐसे कितने ही जीवोंके रुचिरूपतासे नहीं परिणमता है अर्थात् कितने ही पापीजीवोंको अच्छा नहीं लगता है। क्योंकि, वे पापीजीव अपुनर्वन्धक [जो तीव्रभावोंसे पापको नहीं करता है, वह अपुनर्वंधक कहलाता है और इसकी मुक्ति पुद्गल परावर्त्तनमें ही हो जाती है] आदि जीवोंसे भिन्न होनेके कारण अयोग्य है अर्थात् उपदेशके पात्र नहीं है। सो ही कादम्वरीमे वाणकवीने भी कहा है कि, जैसे निर्मल स्फटिकमणि (विल्लोर) में चद्रमाकी किरणें सुखसे प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार मलरहित (स्वच्छ) मनमे उपदेशोंके समूह सुखसे प्रवेश करते है। और जैसे कर्ण (कानों) में स्थित हुआ निर्मलजल शूलरोगको उत्पन्न करता है, उसीप्रकार कर्णोंमें स्थित हुआ निर्मल गुरूका वचन भी अभव्यजीवके शूल नामक रोगको उत्पन्न कर-

[1] पापं न तीव्रभावात्करोतीत्यादिलक्षणोऽपुनर्वंधकः। अस्य च पुद्गलपरावर्त्तमध्य एव मुक्तिः॥

ता है अर्थात् यदि अभव्य उपदेशवचन सुनें तो, वह उसको अच्छा नहीं लगता है। इसकारण वास्तवमें भगवान् उनके उपदेशक नहीं हैं अर्थात् 'तेषा न येषामनुशासकस्त्वम्' (जिनके आप उपदेश दाता नहीं है, उनके ही ये दुराग्रह होते हैं) ऐसा जो आचार्यने कहा है वह सत्य है। क्योंकि, वैशेषिकमतवाले अभव्य होनेसे उपदेशके पात्र नहीं हैं।

न चैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसम्भावना। न हि कालदष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीवितेतरदष्टको विषभिषगुपालम्भनीयोऽतिप्रसङ्गात्। स हि तेषामेव दोष। न खलु निखिलभुवनाभोगमवभासयन्तोऽपि भानवीया भानव कौशिकलोकस्यालोकहेतुतामभजमाना उपालम्भसम्भावनास्पदम्। तथा च श्रीसिद्धसेन —"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य यल्लोकबान्धव तवापि खिलान्यभूवन्। तन्नाद्भुत खगकुलेष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाता। १।"

और इस कथनसे तीन लोकके गुरु–श्रीभगवानके असामर्थ्यकी सभावना नहीं है अर्थात् कोई यह शका करे कि, अभव्यको उपदेश न दे सकनेसे भगवान् असमर्थ है, सो नहीं है। क्योंकि, अन्यके डसे हुएको जीवदान देनेवाला विषवैद्य यदि कालसर्पके डसेको नहीं जिला सके तो वह विषवैद्य उपालभके योग्य नहीं है। क्योंकि, अतिप्रसग है। **भावार्थ**—सब सर्पआदिके डसे हुए जीवोंको उनका जहर दूरकरके जिला देनेवाला विषवैद्य (जहरका इलाज करनेवाला) यदि काल जातिके सर्पसे डसे हुएको न जिला सके तो वह वैद्य ठपकेका पात्र नहीं है। क्योंकि, अन्य सैकडो विषोको दूर करता है। इसकारण वह दोष उस विषवैद्यका नहीं, किन्तु उस सर्पका ही है कि, जिस पर मन्त्र आदिका प्रभाव ही नहीं गिर सकता है। इसी प्रकार अन्य सब जीवोंको उपदेश देते हुए भगवान् यदि अभव्योंको उपदेश न देसकें तो इससे भगवान् असमर्थ नहीं हो सक्ते है। यह दोष उन अभव्योंका ही है, कि, वे उपदेशके पात्र नहीं है। क्योंकि, सपूर्ण भुवनमडलको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें यदि उलूका (घूघुओं) के प्रकाशकी कारण नहीं होवें तो उपालम्भके पात्र नहीं है। **भावार्थ**—सूर्यकी किरणें सब जगह प्रकाश करके सब जीवोंको सब पदार्थ दिखलाती हैं, परतु यदि घूघूको उनके प्रकाशमें न दीखे तो उसमें सूर्यकी किरणोका कोई दोष नहीं है। किंतु उन घूघुओंका ही दोष है। सो ही श्रीसिद्धसेनदिवाकरने कहा है कि "हे लोकबान्धव! उत्तम धर्मरूप बीजके बोनेमें अत्यन्त निपुणताके

१ अप्रहित क्षत्रादि खिलमुच्यते। २ तमसि सचरन्त इति तामसा।

धारक आपके भी जो खिल अर्थात् हल आदिसे नही गोदे हुए क्षेत्र हुए सो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि, जगतमें अन्धकारमें फिरनेवाले घूघूआदि दिनान्ध पक्षियोंके समूहको सूर्यकी किरणें भ्रमरीके चरणोंके समान पीतवर्णकी धारक दीख पडती है।"

भावार्थ—जैसे चतुर किसानद्वारा बोया हुआ बीज अयोग्यक्षेत्रमें फलदायी नही होता है, उसी प्रकार जब भगवान्ने सम्यग्धर्मका उपदेश दिया तब कितने ही अभव्योंको उस उपदेशने लाभ नही पहुंचाया। सो इस विषयमें कोई आश्चर्य नही। क्योंकि, जो सूर्यकी किरणें अंधकारको दूरकरके संपूर्ण भुवनमंडलमें प्रकाश कर देती हैं, वे ही सूर्यकी किरणे नेत्र बंद कियेहुए घूघू आदि पक्षियोंको भ्रमरी (भोंरी) की टांगोंके समान कुछ कुछ पीली नजर आती है। १।"

अथ कथमिव तत्कुहेवाकानां विडम्बनारूपत्वमिति ब्रूमः। यत्तावदुक्तं परैः क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वाद्घटवदिति। तदयुक्तम्। व्याप्तेरग्रहणात्। साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसंवादः। स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात्। सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद्दृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवददृश्यशरीरविशिष्टः। प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः। तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात्प्रमेयत्वादिवत्साधारणानैकान्तिको हेतुः।

अब उन वैशेषिकोंके खोटे आग्रह विडम्बनारूप कैसे है सो कहते है। प्रथम ही जो वैशेषिकोंने यह अनुमानका प्रयोग कहा है कि, 'पृथ्वी आदिक बुद्धिमानके बनाये हुए है, कार्यहोनेसे, घटके समान' सो ठीक नही है। क्योंकि, इस अनुमानमें व्याप्तिका ग्रहण नही है। कारण कि, 'जब सब स्थलोंमें प्रमाणद्वारा व्याप्ति सिद्ध हो जाती है, तभी साधन साध्यको जनाता है' यह सब मतवालोंका कहना है। इसलिये हम पूछते हैं, कि तीन लोकको रचता हुआ वह यह तुम्हारा माना हुआ ईश्वर शरीरसहित है वा शरीररहित है। अर्थात् ईश्वरने जगतको शरीर धारणकरके बनाया है? वा विना शरीर धारणकिये बनाया है? यदि कहो कि, सशरीर है, तो क्या हम जैसोंके समान दृश्य (दीखनेमें आनेवाला) शरीरका धारक है? अथवा पिशाच आदिके समान अदृश्य शरीरका धारक है? अर्थात् ईश्वरका शरीर हमारे शरीरकी तरंह सबके दीखनेमें आता है, वा पिशाच आदिके शरीरके समान किसीके दीखनेमें नहीं आता है। यदि कहो कि, ईश्वर दृश्यशरीरका धारक है, तो प्रथम तो प्रत्यक्षसे बाधा होती है। अर्थात् ईश्वर देखनेमें नहीं आता है। और दूसरे उस ईश्वरके शरीरके व्यापारके विना भी उत्पन्न होते हुए घास, वृक्ष, इन्द्रधनुप तथा मेघ

आदिमें कार्यपना देखनेसे प्रमेयत्वहेतुके समान कार्यत्वहेतु भी साधारणानैकान्तिकनामक जो हेतुदोष है, उससे दुष्ट होता है। भावार्थ—जैसे, ' पर्वत अग्निका धारक है, प्रमेय (जाननेयोग्य) होनेसे ' इस प्रयोगमें प्रमेयत्वहेतु साधारणानैकान्तिक है अर्थात् अग्निरूपसाध्यका धारक जो पर्वत है, उसमें भी रहता है और उस पर्वतसे भिन्न जो जलाशय आदि है उनमें भी रहता है। इसी प्रकार ईश्वरने जिन पदार्थोंको अपने शरीरद्वारा रचे उनमें तो कार्यत्वहेतु रहा ही। और जिन घास वृक्ष आदिको ईश्वरने अपने शरीरसे नहीं रचे हैं, उनमें भी रह गया, इस कारण कार्यत्वहेतु साधारणानैकान्तिकदोषका धारक होगया।

द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेष कारणमाहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम्। प्रथमप्रकार कोशपानप्रत्यायनीय। तत्सिद्धौ प्रमाणाऽभावात्, इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्व प्रत्येतव्यम्। तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति।

और दूसरा विकल्प जो ईश्वरके पिशाच आदिके समान अदृश्य (देखनेमें न आनेवाले) शरीरका धारकपना है, उसमें उस ईश्वरका माहात्म्यविशेष (एकप्रकारका प्रभाव) कारण है? अथवा हमारा तुम्हारा मन्दभाग्य कारण है अर्थात् ईश्वरका शरीर ईश्वरके माहात्म्यसे हमको नहीं दीखता है? वा हमारे मन्दभाग्यसे? यदि कहो कि, ईश्वरके माहात्म्यसे ईश्वरका शरीर नहीं दीखता है, तो यह कहना एकप्रकारकी शपथ (सौगन) खाकर विश्वास कराने योग्य है अर्थात् मिथ्या है। क्योंकि, ईश्वरके अदृश्य शरीरको सिद्धकरनेमें कोई भी प्रमाण नहीं है। और जब ईश्वरके माहात्म्यविशेष सिद्ध होजावे, तब तो ईश्वरके अदृश्यशरीरका धारकपना विश्वासकरने योग्य होवे तथा पहिले जब ईश्वरके अदृश्यशरीरता सिद्ध होचुके तब उसके माहात्म्यविशेषकी सिद्धि होवे, इसकारण अन्योऽन्याश्रय दोषकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—जहा दो पदार्थोंमें परस्पर एककी सिद्धिके विना दूसरेकी सिद्धी न हो वहा अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, इसलिये यहा भी माहात्म्यविशेषके विना अदृश्यशरीरता और अदृश्यशरीरताके विना माहात्म्यविशेषकी सिद्धी न होनेसे अन्योऽन्याश्रयदोष आया।

द्वैतीयीकस्तु प्रकारो न सचरत्येव विचारगोचरे। सशयानिवृत्ते। किं तस्याऽसत्त्वाददृश्यशरीरत्व वान्ध्येयादिवत्, किंवास्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात्पिशाचादिवदिति निश्चयाऽभावात्। अशरीरश्चेत्तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्व-

पम्यम् । घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः । अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमा-
काशादिवत् । तस्मात्सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः ।

अब यदि कहो कि, हमारे मन्दभाग्यसे ईश्वरका शरीर हमको नहीं दीखता है, तो यह कहना हमारे विचारमें ही नहीं आता
है । क्योंकि, क्या ? जैसे वन्ध्याके पुत्रका अभाव है, उसप्रकार ईश्वरके शरीरका ही अभाव है, जिससे, कि, उसका शरीर देखनेमें
नहीं आता ? अथवा क्या ? हमारे मदभाग्यसे जैसे हमको पिशाच आदिका शरीर नहीं देख पड़ता है, उसीप्रकार ईश्वरका शरीर भी
हमारे देखनेमें नहीं आता है, यह संदेह दूर नहीं हो सकता है। भावार्थ—यदि कहो कि मन्दभाग्यसे ईश्वरका शरीर नहीं दीखता
है, तो यह हम नहीं मान सकते है, क्योंकि, ईश्वरके शरीर है, वा नहीं है, यह संशय दूर नहीं होता । यदि कहो कि, ईश्वर
शरीररहित होकर जगतको बनाता है, तो ऐसा कहनेमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकके असमानता होती है । क्योंकि, कार्यरूप जो
घटादिक है, वे शरीरके धारक कुम्भकार आदिसे बनाये हुए देखे जाते है । भावार्थ—घट आदि कार्य सशरीरके बनाये हुए देखे
जाते है और तुमने जगतरूप कार्यको अशरीरीका बनाया हुआ मान लिया, इसलिये घटरूप जो दृष्टान्त है. वह जगतरूप दार्ष्टान्ति-
कमें घटित नहीं होता है । और शरीररहित उस ईश्वरके कार्यकरनेमें सामर्थ्य भी कहासे आसकता है । क्योंकि, शरीररहित आ-
काश आदिमें कार्यकरनेका सामर्थ्य नहीं देखा जाता है । इस कारण सशरीर और अशरीररूप दोनो पक्षोंमें ही कार्यत्वरूप हेतुकी
व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है । भावार्थ—तुमने जो जगतको ईश्वरकर्तृक सिद्ध करनेके लिये कार्यत्वहेतु दिया है, उस कार्यत्व-
हेतुकी व्याप्ति शरीरसहित अथवा शरीररहित इन दोनों ईश्वरोंमें ही नहीं रहती है । इस कारण तुम्हारा अनुमान मिथ्या है ।

किञ्च त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः । धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधा-
तुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरं हेतुभणनात् । तदेवं न कश्चिज्जगतः कर्त्ता । एकत्वादीनि तु जग-
त्कर्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि तद्विशेषणानि षण्ढं प्रति कामिन्या रूपसंपन्निरूपणप्रायाण्येव । तथापि तेषां
विचारासहत्वख्यापनार्थं किंचिदुच्यते ।

और तुम्हारे मतके अनुसार यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है । क्योंकि, इससमयमें भी उत्पन्न होते हुए जो जगतरूप धर्मीके
एकदेशरूप वृक्ष, बिजली और मेघ आदि है, उनका कोई कर्त्ता देखनेमें नहीं आता है, इस कारण प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित जो धर्मी

है, उसके पश्चात् तुमने कार्यत्वहेतुका कथन किया है। इसलिये पूर्वोक्तप्रकारसे तुम्हारे अनुमानका खंडन होजानेसे सिद्ध हुआ कि, जगतका कर्त्ता कोई भी नहीं है। और ईश्वरको जगतका कर्त्ता सिद्ध करनेके लिये दिये हुए जो एकत्व आदि ईश्वरके विशेषण हैं, वे तो नपुंसकके प्रति स्त्रियोंके रूप लावण्य आदिका कथन करनेके समान है। भावार्थ—जैसे नपुंसकके प्रति स्त्रियोंके रूपका वर्णन करना व्यर्थ है, उसी प्रकार जगत्कर्तृत्वसे रहित उस ईश्वरके प्रति एकत्व आदि विशेषणोंका देना भी वृथा है। तथापि 'वे एकत्व आदि विशेषण विचारको नहीं सहते हैं, यही प्रकट करनेके लिये यहां पर कुछ कहते हैं।

तत्रैकत्वचर्चस्तावत्। वहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसम्भावनेति नायमेकान्त। अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्द्ध, अनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीना, नैकसरघानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीना चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात्। अथैतेष्वप्येक एवेश्वर कर्त्तेति ब्रूषे। एव चेद्भवतो भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिमा वासना। तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्त्ता स एव किं न कल्प्यते। अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्ध कर्त्तृत्व कथमपन्होतु शक्यम्। तर्हि कीटिकादिभि किं तव विराद्ध यत्तेषामसदृशतादृशप्रयाससाध्य कर्त्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते। तस्माद्वैमत्यभयान्महेशितुरेकत्वकल्पना भोजनादिव्ययभयात्कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिव।

उन विशेषणोंमें प्रथम ही ईश्वरके एकत्वविशेषणके विषयमें चर्चा करते हैं। वादियोंने जो कहा है कि, 'बहुतसे ईश्वर मिल कर जो एक कार्य करें, तो उनके परस्पर सम्मतिमें भेद हो जावे' सो यह एकान्त नहीं है अर्थात् मतिभेद होवे ही ऐसा निश्चय नहीं है। क्योंकि, हम सैंकड़ों कीड़ियों (चीटियों) द्वारा रचे हुये भी बिलको, बहुतसे शिल्पियों (कारीगरों वा राजों) द्वारा बनाये हुए भी महल आदि मकानोंको, और बहुतसी मक्षिकाओं (मक्खियों) से निर्माण किये हुए सहतके छाते आदिको प्रशंसापूर्वक एकरूपके धारक देखते हैं। यदि इन बिल आदिका भी एक ईश्वरको ही कर्त्ता कहो और ऐसी ही तुम्हारी ईश्वरके प्रति अतुल्य भक्ति हो, तो कुविंद (जुलाहा) और कुंभकार आदिका तिरस्कार करके पट तथा घट आदिका कर्त्ता भी उस ईश्वरको क्यों नहीं मान लेते हो। भावार्थ—जैसे तुमने कीटिका आदि द्वारा रचे हुए बिल आदिकोंका कर्त्ता ईश्वर माना है, उसी प्रकार जुलाहेसे बने हुए वस्त्रका और कुंभकार द्वारा रचे हुए घटका कर्त्ता भी उसी ईश्वरको मान लो। यदि कहो कि,

है अर्थात् हम प्रत्यक्षमें कुविंद आदिको पट आदि बनाते हुए देखते हैं,
उन कुविंद, कुंभकार आदिका कर्तृत्व प्रत्यक्षसिद्ध छिपा सकते है, तो उन कीटिका आदिने तुम्हारा क्या अपराध किया है ?
इसकारण उन कुविंदादिका पटादिकर्तृत्व कैसे सिद्ध होनेयोग्य कर्तृत्वको एक ही क्षणमें निरादरताके साथ दूर करते हो ।
जो तुम उनके उस असाधारण परिश्रमसे जो तुम्हारा ईश्वरको एक मानना है, वह भोजन आदि संबंधी व्ययके भयसे
इस कारण परस्पर संमतिमें भेद होनेके भयसे करनेके समान है । भावार्थ—जैसे कृपण पुरुप खर्चके
कृपणपुरुषका अत्यंत प्यारे स्त्रीपुत्रोंको छोडकर शून्य महावनको सेवन उसी प्रकार तुम्हारा मतिभेदके भयसे ईश्वरको एक मानना है ।
डरसे स्त्री आदिको छोड़कर निर्जन वनमें चला जावे,

तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम् । तद्धि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वा स्यात् । प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वादितरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता । अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रोडीकरणाभ्युपगमात् । यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः । तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम् "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतःपाणिरुतविश्वतःपाद्" इत्यादि श्रुतेः ।

और जो तुमने ईश्वरके सर्वगतपना माना है, वह भी उस ईश्वरके सिद्ध नहीं है । क्योंकि, वह ईश्वर शरीररूपसे सर्वगत है ?
वा ज्ञानरूपसे ? यदि शरीररूपसे ईश्वरको सर्वगत कहोगे तो उस ईश्वरके शरीरसे ही तीन जगत व्याप्त हो जावेगा. इस कारण
जगतमें अन्य जो निर्मेय (ईश्वरके बनाने योग्य) पदार्थ है, उनको रहनेके लिये कोई स्थान न मिलेगा । यदि कहो कि,
ईश्वर ज्ञानरूपसे सर्वगत है; तब तो साध्यकी सिद्धि है अर्थात् जिसको हम सिद्ध करना चाहते थे, वह सिद्ध हो गया ।
क्योंकि हम भी परमात्माको निरतिशयज्ञान (केवलज्ञान) रूपसे तीन जगतको गोदमें (ज्ञानके विषयमें) करनेवाला मानते हैं ।
भावार्थ—जैसे तुम ईश्वरको ज्ञानरूपसे सर्वगत मानते हो, उसी प्रकार हम भी श्रीजिनेन्द्रको ज्ञानरूपसे सर्वगत मानते हैं ।
इसकारण इस माननेमें तुम्हारे हमारे तो परस्पर कोई विरोध नहीं है । परन्तु ऐसा मानने पर तुमने जिस वेदको प्रमाण कर
रक्खा है, उससे तुमको विरोध होता है । क्योंकि, तुम्हारे प्रमाणीभूत वेदमें "ईश्वर-सर्वस्थलोंमें नेत्रका धारक, सर्वत्र मुखका धारक,
समस्त स्थानोंमें हस्तका धारक तथा सब जगह चरणका धारक है" इत्यादि श्रुतिसे ईश्वरको शरीररूपसे सर्वगत कहा है ।

यच्चोक्तं तस्य प्रतिनियतदेशवर्त्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति ।

तत्रेद पृच्छयते । स जगत्त्रय निम्मिमाणस्तक्षादियत्साक्षाद्देहव्यापारेण निम्मिमीते । यदि वा सङ्कल्पमात्रेण । आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेविधाने अक्षोदीयस कालक्षेपस्य सम्भवाद्वहीयसाऽप्यनेहसा न परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनाया नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किञ्चिद्दूषणमुत्पश्याम । नियतदेशस्थायिना सामान्यदेवानामपि सकल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रतिपत्ते ।

और जो तुमने यह कहा है, कि—यदि ईश्वरको सर्वगत (सब स्थानोंमें रहनेवाला) न मानकर किसी एक नियत देश (स्थान) में रहनेवाला मानें तो अनियत अर्थात् भिन्न २ अनेकदेशोंमें रहनेवाले जो तीनलोकमें व्याप्त पदार्थ है, उनको वह ईश्वर यथावत् न बना सकेगा अर्थात् ईश्वर एक स्थानमें रहकर अनेक स्थानोंमें रहनेवाले घट आदि पदार्थोंको जेसेके तेसे न बना सकेगा । यहां पर हम यह पूछते हैं कि, तीन जगतको रचता हुआ वह ईश्वर खाती (बढ़ई) के समान साक्षात् शरीरके व्यापारसे तीन लोकको बनाता है ? अथवा सकल्प (इच्छा) मात्रसे ही तीनलोकको रचता है । यदि कहो कि, ईश्वर साक्षात् शरीरके व्यापारसे तीन जगतको रचता हे, तब तो एक ही पृथ्वी, पर्वत आदिके बनानेमें बहुतसा समय लगना सभव है, इसकारण अत्यन्त अधिक कालमें भी तीन जगतकी समाप्ति (पूर्णता) न होगी । और सकल्पमात्रसे कार्य करनेरूप दूसरे पक्षको मानने पर यदि ईश्वर एकदेशमें रहकर भी तीन जगतकी रचना करे, तो उसमें हम कोई भी दूषण नहीं देखते हैं । क्योंकि हमने नियतदेशमें रहनेवाले सामान्यदेवोंके भी सकल्पमात्रसे ही उन २ कार्योंका करना स्वीकार किया है ।

किञ्च तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थलेष्वपि तस्य वृत्ति प्रसज्यते । तथा चाऽनिष्टापत्ति । अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानाऽऽत्मना सर्वजगत्त्रय व्याप्नोतीत्युच्यते तदाऽशुचिरसास्वादादीनामप्युपलम्भसम्भावनात्, नरकादिदु खस्वरूपसवेदनाऽऽत्मकतया दु खाऽनुभवप्रसङ्गाच्चाऽनिष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत् । तदेतदुपपत्तिभि प्रतिकर्त्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकरणम् । यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थलस्थमेव विषय परिच्छिनत्ति । न पुनस्तत्र गत्वा । तत्कुतो भवदुपालम्भ समीचीन । नहि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादाऽनुभूति । तद्भावे हि स्रक्चन्दनाऽङ्गनारसवत्यादिचिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति ।

और विशेष यह है कि, ईश्वरके सर्वगतपना अङ्गीकार करनेपर निरन्तर महा अधकारसे व्याप्त जो नरक आदि स्थान है, उनमें भी उस ईश्वरके रहनेका प्रसग होगा और ऐसा होनेसे तुम्हारे अनिष्टापत्ति होगी। अब कदाचित् तुम यह कहो कि—जब परमात्मा ज्ञानरूपसे तीनलोकको व्याप्त करता है, ऐसा आप कहते है; तब सर्वज्ञके अपवित्र रसके आस्वाद आदिके ज्ञानकी सभावना होनेसे और नरक आदिमें जो दुःख है, उनके स्वरूपको जाननेके कारण दुःखोंके अनुभवका प्रसंग होनेसे आपके पक्षमें भी अनिष्टापत्ति समान ही है। भावार्थ—ईश्वरको शरीरसे सर्वव्यापी माननेरूप हमारे पक्षमें जैसे अनिष्टापत्ति होती है, उसीप्रकार ईश्वरको ज्ञानरूपसे सर्वव्यापी स्वीकार करनेरूप आपके पक्षमें भी अनिष्टापत्ति होती है। सो यह तुम्हारा कथन जैसे उपायोंसे शत्रुको निवारण करनेमें असमर्थ पुरुष धूल फेकता है, उसके समान है। क्योंकि, ज्ञान अप्राप्यकारी है अर्थात् जहां पर ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ स्थित है, वहां पर ज्ञान नहीं जाता है, इस कारण ज्ञान जो है सो अपने स्थलमें (आत्मामें) स्थित हुआ ही ज्ञेयको जानता है। और ज्ञेयके स्थानमें जाकर ज्ञेयको नहीं जानता है। इसलिये तुमने जो हमारे पक्षमें अनिष्टापत्ति दी है, वह किस प्रकारसे उत्तम हो सकती है अर्थात् तुमने जो दोष दिया है, वह मिथ्या है। क्योंकि तुमको भी तो अशुचि पदार्थके ज्ञानमात्रसे उसके रसके आस्वादनका अनुभव नहीं होता है। और यदि कहो कि हमको अशुचिपदार्थके जाननेसे उसके रसका ज्ञान भी हो जाता है, तो इस प्रकार माननेपर पुष्पमाला, चंदन, स्त्री और जलेबी आदि पदार्थोंके ज्ञानमात्रसे ही तुमको तृप्ति हो जावेगी, इसकारण उन माला आदि पदार्थोंकी प्राप्तिके अर्थ जो प्रयत्न करते हो, उन प्रयत्नोंकी निष्फलताका प्रसग होगा। भावार्थ—जैसे तुम अशुचि पदार्थके ज्ञानसे उसके रसका ज्ञान होना मानते हो, उसीप्रकार तुमको माला आदिके ज्ञानसे ही माला आदिकी इच्छाकी पूर्त्ति भी माननी पड़ेगी, और ऐसा मानने पर माला आदिकी प्राप्तिके लिये जो तुम प्रयत्न करते हो, वे निष्फल हो जावेंगे।

यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तम्। तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम्। तथा च वक्तारो भवन्ति। 'अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति' इति। न च ज्ञानं प्राप्यकारि। तस्यात्मधर्मत्वेन वहिर्निर्गमाऽभावात्। वहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः। न हि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यच्च परे दृष्टान्तयन्ति। यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्यान्निष्क्रम्य भुवनं भासयन्त्येवं ज्ञानमप्यात्मनः

सकाशाद्बहिर्निर्गत्य प्रमेय परिच्छिनत्तीति । तत्रेदमुत्तरम् । किरणाना गुणत्वमसिद्धम् । तेपा तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात् । यश्च तेपा प्रकाशात्मा गुण स तेभ्यो न जातु पृथग् भवतीति ।

ओर जो हमने पहिले ईश्वरको ज्ञानरूपसे सर्वव्यापी माननेमें सिद्धका साधन कहा हे, वह भी शक्तिमात्रकी अपेक्षा करके स्वीकार करना चाहिये अर्थात् ईश्वरका ज्ञान सब पदार्थोंके जाननेकी शक्तिको धारण करता हे, ऐसा समझना चाहिये । क्योंकि " इस पुरुषकी बुद्धि सब शास्त्रोंमें फेलती हुई है " ऐसा कहनेवाले कहा करते हैं । भावार्थ—जैसे किसी मनुष्यकी बुद्धिकी शक्तिको देखकर लोग कहते हैं कि, इसकी बुद्धि सब शास्त्रोंमें फेलती हे, उसीप्रकार ईश्वरके ज्ञानकी शक्तिको देख कर ही हमने भी कहा हे कि, ईश्वरका ज्ञान सब जगह व्याप्त हे । और ज्ञान प्राप्यकारी (ज्ञेयके समीप जाकर ज्ञेयको जाननेवाला) नहीं है । क्योंकि, ज्ञान आत्माका धर्म होनेसे आत्माके बाहर नहीं जा सकता है । और यदि ज्ञान आत्माके बाहर जावे तो आत्माके अचेतन पनेकी प्राप्ति होनेसे अजीवत्वका प्रसग आवे अर्थात् ज्ञानके चले जानेपर जीव अजीव हो जावे । क्योंकि, धर्मीको छोडकर केवल धर्म कहीं भी नहीं देखा जाता है अर्थात् धर्मीके विना धर्म कहीं भी नहीं रहता है । ओर जो वैशेपिक दृष्टान्त देते है कि, जैसे सूर्यकी किरणें गुणरूप है, तो भी सूर्यसे निकलकर जगतको प्रकाशित करती हे, उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मासे बाहर निकलकर ज्ञेयको जानता हे। यहा पर यह उत्तर है कि, किरणोंके गुणपना असिद्ध हे। क्योंकि, किरणें तेजके पुद्गलरूप होनेसे द्रव्य हे। और जो उन किरणोंका प्रकाशस्वरूप गुण हे, वह उन पुद्गलद्रव्यरूप सूर्यकी किरणोंसे कदाचित् भी जुदा नहीं होता हे ।

तथा च धर्मसङ्ग्रहिण्या श्रीहरिभद्राचार्यपादा । " किरणा-गुणा न, दव्व तेसि पयासो-गुणो, न वा दव्व । ज णाण आयगुणो कहमदव्वो स अन्नत्थ । १ । गन्तूण न परिछिदइ णाण णेय तयम्मि देसम्मि । आयत्थ मिय नवर अचिंतसत्तीउ विण्णेय । २ । लोहोवलस्स सत्ती आयत्था चेव भिन्नदेसम्मि । लोह आगरिसती दीसइ इह

१ किरणा-गुणा न, द्रव्य तपां प्रकाशो-गुणो, न वा द्रव्यम् । यज्ज्ञानमात्मगुण कथमद्रव्य स अन्यत्र । १ । गत्वा न परिच्छिनत्ति ज्ञान ज्ञेय तस्मिन्देशे । आत्मस्थमेव नवर अचिन्त्यशक्त्या तु विज्ञेयम् । २ । लोहोपलस्य शक्ति आत्मस्थैव भिन्नदेशमपि । लोहमाकर्षन्ती दृश्यते इह कार्यप्रत्यक्षा । ३ । एवमिह ज्ञानशक्ति आत्मस्थैव हन्त लोकान्तम् । यदि परिच्छिनत्ति सर्वं को नु विरोधो भवेत्तत्र । ४ । इतिच्छाया ॥

कज्जपचक्खा । ३ । एवमिह नाणसत्ती आयत्था चेव हंदि लोगंतं । जइ परिछिंदइ सव्वं को णु विरोहो भवे तत्थ । ४ । " इत्यादि ।

सो ही धर्मसंग्रहणी नामक शास्त्रमें श्रीहरिभद्रजी सूरीश्वर कहते हैं कि— " किरणें गुण नहीं हैं; किन्तु द्रव्य हैं, और उन किरणोंका जो प्रकाश है, वह तेज नामक द्रव्य नहीं है; किन्तु तैजसपुद्गलमय जो सूर्यकी किरणें हैं, उनका गुण है । इस कारण आत्मारूपद्रव्यका गुणरूप जो ज्ञान है, वह आत्माके विना अन्य स्थानमें कैसे रह सकता है अर्थात् नहीं रह सकता है । १ । ज्ञान जो है सो जिस देशमें ज्ञेय पदार्थ स्थित है, वहा जाकर उस ज्ञेयको नहीं जानता है; किन्तु अपनेमें स्थित हुए ही ज्ञेयको जानता है । इसमें विशेष यही है कि अचिंत्यशक्ति है अर्थात् यह एक आत्माके ज्ञानमें अचिन्त्यशक्ति है, ऐसा जानना चाहिये । २ । दृष्टान्त यह है कि, जैसे–चुम्बक पाषाणकी जो आकर्षण शक्ति है, वह चुम्बकमें रहकर ही भिन्न देशमें वर्त्तमान जो लोह है, उसको खैंचती है और जगतमें प्रत्यक्ष कार्य करती हुई देखी जाती है । ३ । इसी प्रकार जो ज्ञान शक्ति है, वह आत्मामें स्थित हुई ही यदि लोकके अंत तक विद्यमान समस्त पदार्थोंको जानती है, तो उसमें वादियोंके कौनसा विरोध होता है । **भावार्थ**—जैसे चुम्बककी आकर्षणशक्ति चुम्बकमें स्थित हुई ही लोहको खैंच लेती है, इसी प्रकार आत्माकी ज्ञानशक्ति आत्मामें स्थित हुई ही समस्तज्ञेयको जानती है, इस कारण इस विषयमें वादियोंको विरोध न करना चाहिये । ४ । इत्यादि ॥

अथ सर्वगः सर्वज्ञ इति व्याख्यानम् । तत्राऽपि प्रतिविधीयते । ननु तस्य सार्वज्ञ्यं केन प्रमाणेन गृहीतम् प्रत्यक्षेण परोक्षेण वा । न तावत्प्रत्यक्षेण । तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतयाऽतीन्द्रियग्रहणाऽसामर्थ्यात् । नापि परोक्षेण । तद्धि अनुमानं शाब्दं वा स्यात् । न तावदनुमानम् । तस्य लिङ्गग्रहणलिङ्गिलिङ्गसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात् । न च तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमेये किंचिदव्यभिचारि लिङ्गं पश्यामः । तस्याऽत्यन्तविप्रकृष्टत्वेन तत्प्रतिबद्धलिङ्गसम्बन्धग्रहणाऽभावात् ।

अब जो तुमने ' सर्वग ' इस शब्दका सर्वज्ञ अर्थ किया है. अर्थात् ईश्वरको सर्वज्ञ माना है, इसका भी खंडन करते हैं । हम पूछते हैं कि, तुमने उस ईश्वरके सर्वज्ञपनेको किस प्रमाणसे ग्रहण किया (जाना) है । प्रत्यक्ष प्रमाणसे अथवा परोक्ष प्रमाणसे ? यदि कहो कि, प्रत्यक्षप्रमाणसे हमने ईश्वरको सर्वज्ञ जाना है, सो नहीं । क्योंकि, वह प्रत्यक्षप्रमाण इंद्रिय और पदार्थ इन दोनोंके

सभावसे उत्पन्न होनेके कारणसे इन्द्रियोंके अगोचर जो ईश्वरका सर्वज्ञत्व है, उसके ग्रहण करनेमें असमर्थ है। यदि कहो कि, हमने परोक्षप्रमाणसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वको जाना है, तो सो भी नहीं कह सकते हो। क्योंकि, वह परोक्ष—अनुमान तथा शाब्द (आगम) भेदसे दो प्रकारका है, इसलिये अनुमानसे जाना या आगमसे? अनुमानप्रमाणसे तो ईश्वरके सर्वज्ञत्वको जान नहीं सकते हो। क्योंकि, वह अनुमान जब पहले लिंग (हेतु) का ग्रहण और लिङ्ग तथा लिङ्गी इन दोनोंके संबंधका स्मरण हो जाता है, उसके पीछे उत्पन्न होता है। भावार्थ—'पर्वत अग्निवाला है, धूमवान् होनेसे' इस स्थलमें जैसे पहिले धूमरूप लिंगका ग्रहण होता है, और फिर धूमरूप लिंगका अग्निरूप लिङ्गीके साथ संबंधका स्मरण होता है, तब अनुमान होता है। इसी प्रकार 'ईश्वर सर्वज्ञ है' इस अनुमानमें किसी लिंगका ग्रहण और उस लिंगका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ संबंधका स्मरण होना चाहिये। सो नहीं है। इसलिये अनुमान नहीं हो सकता है। और हम उस ईश्वरका सर्वज्ञत्वरूप जो अनुमेय है, उसमें कोई भी अव्यभिचारी लिङ्ग नहीं देखते हैं। क्योंकि वह ईश्वर अत्यन्त दूर है, इस कारण उस ईश्वरके साथ संबंधित जो लिंग है, उसका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ संबंधके ग्रहणका अभाव है।

अथ तस्य सर्वज्ञत्वं विना जगद्वैचित्र्यमनुपपद्यमानं सर्वज्ञत्वमर्थादापादयतीति चेत्। न। अविनाभावाऽभावात्। न हि जगद्वैचित्री तत्सार्वज्ञ्यं विनाऽन्यथा नोपपन्ना। द्विविधं हि जगत् स्थावरजङ्गमभेदात्। तत्र जङ्गमानां वैचित्र्यं स्वोपात्तशुभाऽशुभकर्मपरिपाकवशेनैव। स्थावराणां तु सचेतनानामियमेव गतिः। अचेतनानां तु तदुपभोगयोग्यतासाधनत्वेनाऽनादिकालसिद्धमेव वैचित्र्यमिति।

यदि कहो कि यह जो जगतकी विचित्रता है सो उस ईश्वरकी सर्वज्ञताके विना उत्पन्न नहीं होती है, अर्थात् सर्वज्ञ ही ईश्वर इस जगतकी विचित्रताको बना सकता है, इसकारण अर्थापत्तिसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होती है, सो भी नहीं। क्योंकि व्याप्तिका अभाव है। कारण कि—ईश्वरके सर्वज्ञत्वके विना जगतकी विचित्रता नहीं हो सकती है, ऐसा नहीं है अर्थात् जो सर्वज्ञ हो, वही जगतकी विचित्रताको उत्पन्न कर सकेगा, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि, स्थावर और जंगमरूप भेदोंसे जगत दो प्रकारका है, उसमें जंगम (त्रस) जीवोंके तो अपने उपार्जन किये हुए जो शुभ तथा अशुभ कर्म हैं, उनके उदयके वशसे ही विचित्रता होती

है। और जो सचेतन स्थावर वृक्ष आदि है, उनके भी पूर्वोपार्जित शुभ—अशुभकर्मोंके उदयसे ही विचित्रता है। तथा जो अचेतन स्थावर है, वे जो जंगम और सचेतन स्थावर है, उनके कर्मोंके फल भोगनेकी जो योग्यता है उसके साधन है अर्थात् इनके द्वारा जीवोंको स्वोपार्जित शुभ अशुभ कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, इस कारण उन अचेतन स्थावरोंके अनादिकालसे ही सिद्ध वैचित्र्य है।

नाप्यागमस्तत्साधकः। स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात्। तत्कृत एव चेत्तस्य सर्वज्ञतां साधयति। तदा तस्य महत्त्वक्षतिः। स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्त्तनस्य महतामनधिकृतत्वात्। अन्यच्च तस्य शास्त्रकर्त्तृत्वमेव न युज्यते। शास्त्रं हि वर्णात्मकम्। ते च ताल्वादिव्यापारजन्याः। स च शरीर एव सम्भवी। शरीराऽभ्युपगमे च तस्य पूर्वोक्ता एव दोषाः। अन्यकृतश्चेत्सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा। सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्ततदेकत्वाभ्युपगमबाधः। तत्साधकप्रमाणचर्चायामनवस्थापातश्च। असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः।

अब यदि कहो कि, आगम प्रमाण जो है सो उस ईश्वरके सर्वज्ञत्वको सिद्ध करनेवाला है। सो भी नहीं। क्योंकि, वह आगम ईश्वरका किया हुआ है? वा अन्य किसीका? यदि कहो कि, ईश्वरका किया हुआ है तो यदि ईश्वरका किया हुआ आगम ही ईश्वरके सर्वज्ञत्वको सिद्ध करेगा तब तो ईश्वरके महत्त्व (बड़प्पन) का नाश होगा। क्योंकि, महत्पुरुष स्वयमेव (आप ही) अपनी प्रशंसा करना स्वीकार नहीं करते हैं। और विशेष यह है कि, वह तुम्हारा ईश्वर शास्त्रका करनेवाला ही नहीं हो सकता है। क्योंकि शास्त्र अक्षरों रूप है, वे अक्षर तालु (तालवे) आदिके व्यापार (प्रयत्न) से उत्पन्न होते है, और वह तालु आदिका व्यापार शरीरमें ही हो सकता है। यदि ईश्वरके शरीर मानो तो जो दोष ईश्वरको शरीर माननेमें पहले कहे है, वे ही यहां भी होवेंगे। यदि कहो कि, आगम किसी अन्यका किया हुआ है, तो हम पूछते है कि, वह अन्य पुरुष सर्वज्ञ है? अथवा असर्वज्ञ है? यदि कहो कि, वह अन्यपुरुष सर्वज्ञ है, तब तो ईश्वरके द्वैतापत्ति होगी अर्थात् सर्वज्ञ होनेसे ईश्वर दो हो जावेंगे, एक तो आगमका कर्त्ता और दूसरा जगतका कर्त्ता। और ऐसा होनेपर पहले जो तुमने ईश्वरको एक स्वीकार किया है, उसका बाध होगा। तथा उस ईश्वरके सर्वज्ञत्वको सिद्ध करनेवाले प्रमाणकी चर्चा करनेपर अनवस्था दोष भी होवेगा। अर्थात् जैसे प्रथम ईश्वरको सर्वज्ञ सिद्ध करनेके लिये तुमको दूसरा ईश्वर मानना पडा है, इसी प्रकार दूसरे ईश्वरको सर्वज्ञ सिद्ध करनेके लिये तीसरा और तीसरेको सिद्ध

करनेके लिये नाथा ईश्वर मानना पड़ेगा और ऐसा माननेपर अनवस्था दोष होगा। यदि कहो कि, वह आगमका कर्त्ता अन्यपुरुष असर्वज्ञ है तो उस असर्वज्ञ पुरुषके वचनमें विश्वास ही क्या है अर्थात् असर्वज्ञके वचनमें हम विश्वास नहीं करते हैं।

अपर च भवदभीष्ट आगम प्रत्युत तत्प्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति । पूर्वाऽपरविरुद्धाऽर्थवचनोपेतत्वात्। तथाहि— " न हिंस्यात्सर्वभूतानि " इति प्रथममुक्त्वा पश्चात्तत्रैव पठितम् " षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूना मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभि । " तथा " अग्नीषोमीय पशुमालभेत " " सप्तदशप्राजापत्यान् पशूनालभेत " इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते। तथा " नानृत ब्रूयात् " इत्यादिनाऽनृतभाषण प्रथम निषिध्य पश्चाद् " ब्राह्मणार्थेऽनृत ब्रूयादित्यादि " तथा " न नर्मयुक्त वचन हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले। प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चाऽनृतान्याहुरपातकानि। १। "

और वह तुम्हारा माना हुआ आगम उस अपने रचनेवाले ईश्वरको सर्वज्ञ नहीं सिद्ध करता है, किन्तु उलटा ईश्वरको असर्वज्ञ ही सिद्ध करता है। क्योंकि तुम्हारा आगम पूर्व (आगे) तथा अपर (पीछे)में विरुद्ध अर्थके धारक वचनों सहित है। भावार्थ— जिस आगमसे तुम ईश्वरको सर्वज्ञ सिद्ध करते हो, वह आगम पूर्वापरविरुद्धवचनोंका धारक है, अर्थात् पहले जो कहता है, उसके विरुद्ध आगे कह देता है, इसकारण अपने कर्त्ता ईश्वरको सर्वज्ञके बदले असर्वज्ञ ही सिद्ध करता है। सो ही दिखलाते हैं—"सब प्रकारके जीवोंकी हिंसा न करनी चाहिये" ऐसा पहिले कह कर फिर उसी तुम्हारे शास्त्रमें कहा है कि, "अश्वमेधके वचनसे मध्यम (बिचले) दिवसमें तीन कम छ सौ अर्थात् पाचसौ सत्यानवें ५९७ पशुओंका वध किया जाता है। १। " इसीप्रकार " अग्निषोमीय अर्थात् अग्नि और चन्द्र है देवता जिसका ऐसे पशुको मारना चाहिये। " तथा "प्रजापति है देवता जिनका ऐसे सतरह १७ पशुओंका वध करना चाहिये। " इनको आदि लेकर जो वचन हैं, वे पूर्वापरविरोधको कैसे नहीं धारण करते हैं? अर्थात् पूर्वापरविरोधके धारक हैं ही। इसी प्रकार " झूठ नहीं बोलना चाहिये " इत्यादि वचनोंसे पहिले असत्यवचन कहनेका निषेध करके फिर " ब्राह्मणके अर्थ झूठ बोलना चाहिये। " इत्यादि वचन कहे हैं। तथा " नर्ममें अर्थात् हास्य (मजाख अथवा ठठोल) में यदि झूठ वचन कहा जावे तो, वह धर्मनाशक नहीं है, स्त्रियोंके साथ सभोग समयमें यदि असत्य

---

१ अत्र सप्तम धर्ममित्यध्याहार कर्तव्य ।

वचन कह दिया जावे तो, वह धर्मनाशक नहीं है २, विवाहके अवसरमें वरकन्याके दोपोंको न कहकर उनके झूठे ही गुणोंको कह दिये जानेमें जो असत्यवचन बोला जाता है, वह भी धर्मनाशक नहीं है ३, अपने वा परके प्राण जाते समय प्राणोंकी रक्षार्थ यदि असत्यवचन कहा जावे, तो वह धर्मनाशक नहीं है ४, और जब राजा सर्व धनको लूटता होवे, उस समय अपने धनको किसी दूसरेका बतलाकर धनकी रक्षा करनेमें जो असत्य वचन कहा जावे तो, वह भी धर्मनाशक नहीं है ५, इस प्रकार पाच प्रकारके झूंठ पापरूप नहीं है । १ । ”

तथा “ परद्रव्याणि लोष्टवत् ” इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य पश्चादुक्तं “ यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा, तथापि तस्य नाऽदत्तादानम् । यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् । ब्राह्मणानां तु दौर्व-ल्याद्वृपलाः परिभुञ्जते । तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददातीति । तथा— “ अपुत्रस्य गतिर्नास्ति ” इति लपित्वा “अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणां । दिवं गतानि विप्राणामकृ-त्वा कुलसन्ततिम् । १ । ” इत्यादि । कियन्तो वा दधिमापभोजनात्कृपणा विवेच्यन्ते । तदेवमागमोऽपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति । किञ्च सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद्विरचयति तदा जगदुपप्लवकरणस्वैरिणः पश्चादपि कर्तव्य-निग्रहान् सुरवैरिण, एतदधिक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजति । इति तन्नाऽयं सर्वज्ञः ।

तथा “परके द्रव्योंको लोष्टके समान देखने चाहियें अर्थात् दूसरोंके धनको लोहके समान अल्पमूल्यवाला समझकर न लेना चाहिये” इस वचनसे नहीं दिये हुए द्रव्यके ग्रहणका अर्थात् चोरी करनेका निषेध करके फिर कहा है कि, यदि ब्राह्मण हठसे अथवा अपने बलसे परके धनको लेवे, तो भी उस ब्राह्मणके अदत्तादान अर्थात् चोरी करनेका दोष नहीं है । क्योंकि “ ब्रह्माने सर्व जगतकी सपदा ब्राह्मणोंको दी है, उन ब्राह्मणोंमें जो दुर्बलता हो गई इस कारणसे वृषल (शूद्र) उन सपदाओंका भोग करते हैं, अतः दूसरे पुरुषसे कोई भी पदार्थ छीनता हुआ ब्राह्मण अपना ही लेता है, अपना ही भक्षण करता है, अपना ही पहरता है और अपना ही देता है । ” इसी प्रकार “ पुत्ररहितकी गति नहीं है ” ऐसा कहकर फिर उसी शास्त्रमें लिखा है कि, “ कितने ही हजार बालब्रह्मचारी ब्राह्मण कुलकी सततिको न करके अर्थात् कुलकी रक्षार्थ संतान (पुत्र) उत्पन्न न करके

१ आच्छादयतीत्यर्थः ।

स्वर्गको गये । १ । ” इत्यादि । अथवा दही और उड़द इन दोनोंसे मिले हुए भोजनमेंसे कितने कीडे जुदे २ किये जावें भावार्थ—जैसे दधिमाषभोजनमें से कीड़ोको दूर करना कठिन है, उसी प्रकार तुम्हारे आगमके दोषोंका कहना कठिन है। सो इस प्रकार परस्परविरुद्ध वचनोंका धारक आगम भी उस ईश्वरको सवज्ञ नही कहता है । और सर्वज्ञ माननेमें भी विशेष यह है कि, यदि ईश्वर सर्वज्ञ होकर इस स्थावरजगमरूप जगतको रचता है, तो अपनी इच्छानुसार जगतमें उपद्रव करनेवाले और पीछे दमन करने योग्य ऐसे सुरवैरियो (दानवो) को तथा इस ईश्वरके जगत्कर्तृत्वका खडन करनेवाले हम जैसोंको, क्यों रचता है । भावार्थ—यदि ईश्वर सर्वज्ञ है, तो जो दानव जगतमें उपद्रव मचाते है, उनको क्यों रचता है और रचता है तो फिर उनका निग्रह क्यों करता है । तथा—आपको न माननेवाले हम जैसोंको क्यों रचे अर्थात् ईश्वरने अपने विद्वेषी जैनियोंको क्यों बनाये । इस कारण वह ईश्वर सवज्ञ नही है ।

तथा स्ववशत्व स्वातन्त्र्य तदपि तस्य न क्षोदक्षमम्। स हि यदि नाम स्वाधीन सन् विश्व विधत्ते परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते । तत्कथ सुखितदु खिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटित घटयति भुवनम्, एकान्तशर्मसपत्कान्तमेव तु कि न निर्मिमीते । अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तत्तदीयशुभाऽशुभकर्मप्रेरित सस्तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलि । कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये शिपिविष्टहेतुकविष्टपसृष्टिकल्पनाया कष्टैकफलत्वादस्मन्मतमेवाऽङ्गीकृत प्रेक्षावता। तथाचायातोऽय "घट्टकुट्या प्रभातम्"इति न्याय । किञ्च प्राणिना धर्म्माधर्म्मावपेक्षमाणश्चेदय सृजति प्राप्त तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोतीति । न हि कुलालो दण्डादि करोति । एव कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारण स्यात्तर्हि कर्मणीश्वरत्वमीश्वरोऽनीश्वर स्यादिति ।

तथा " ईश्वर स्ववश अर्थात् स्वतन्त्र है " ऐसा जो तुमने कहा है, वह भी विचारको नही सह सकता है, अर्थात मिथ्या है। क्योंकि यदि वह ईश्वर स्वाधीन होकर जगतको रचता है और अत्यत करुणाभावको धारण करता है, ऐसा तुम कहते हो तो सुख तथा दु ख आदि रूप जो अवस्थाओंके भेद है, उनके समूहसे भरे हुए जगतको क्यो बनाता है ? और एकान्त (सर्वथा) सुख तथा सपदाओंसे मनोहर जगतको क्यों नहीं रचता है ? भावार्थ—जो करुणावान् तथा स्वाधीन होता है, वह जीवोंको सुख देनेवाले ही कार्योंको करता है और तुम्हारा ईश्वर जीवोंको सुख, तथा दु ख आदि देनेरूप जगतको रचता है, इस कारणसे विदित

यदि कहो कि, ईश्वर जीवोंके अन्य (पहले) जन्मोंमें उपार्जन किये हुए
होता है कि, तुम्हारा ईश्वर स्वतंत्र और करुणावान नहीं है । उन २ शुभ तथा अशुभ कर्मोंसे प्रेरित होकर ऐसा करता है अर्थात् पूर्वजन्ममें जिस जीवने जैसा शुभ—अशुभ कर्म बांधा है,
उस कर्मके अनुसार ही उस जीवको फल देनेके लिये ईश्वरने सुख—दुःख आदिरूप जगतको रचा है, ऐसा कहो तो तुमने ईश्वरके
स्वाधीनपनेके अर्थ जलांजली दी, अर्थात् ऐसा माननेसे तुम्हारा ईश्वर स्वाधीन न रहा, किन्तु कर्मोंके आधीन हो गया । और जब तीन
लोककी विचित्रता कर्मोंसे उत्पन्न हुई; तब ईश्वर है कारण जिसमें ऐसी जो जगतकी रचनाकी कल्पना करना है, उसका एक कष्ट ही फल
होनेसे विचारको धारण करनेवाले तुमने हमारे ही मतको स्वीकार किया । और हमारे मतको स्वीकार करने पर यह **"घट्टकुटीप्रभात**
(जगात में प्रातःकाल)" नामक न्यायकी प्राप्ति हुई । **भावार्थ—**जैसे कोई मनुष्य महसूली सामानका महसूल न देनेके
विचारसे जिस रास्तेमें महसूल देनेका मुकाम है, उसको छोड़कर किसी दूसरे रास्तेसे शहरके भीतर जानेके लिये संपूर्ण रात्रिमें इधर
परिभ्रमण करे, और फिर फिराकर प्रातःकाल उस महसूल देनेके स्थानमें ही जा पहुंचे—उसका जैसे सब रात्रिका परिश्रम करना वृथा हो
जाता है, इसी प्रकार ईश्वरको जगतके कर्त्ता माननेके लिये तुमने बहुत कुछ उपाय किये, परन्तु अन्तमें जब कर्मोंसे ही जगतकी
विचित्रता सिद्ध हो गई तब ईश्वरको जगतका कर्त्ता माननेमें केवल कष्ट ही कष्ट समझकर तुमने भी हम जैनियोंका जो " ईश्वर
जगतका कर्त्ता नहीं है " यह मत है, उसीको मान लिया । और भी विशेष यह है कि, यदि ईश्वर जीवोंके पुण्य तथा पापकी अपेक्षा
करके इस जगतको रचता है, तो यह सिद्ध हुआ कि, ईश्वर जिसकी अपेक्षा करता है उसको नहीं करता है । क्योंकि कुम्भकार दंड
आदिको नहीं करता है । **भावार्थ—**जैसे कुंभकार घट आदि बनानेके अर्थ दंड आदिकी अपेक्षा रखता है, अतः उनको बना
नहीं सकता, इसी प्रकार ईश्वर जगतके बनानेमें जीवोंके धर्म—अधर्मकी अपेक्षा (ज़रूरत) रखता है. इस कारण उनके बनानेमें
असमर्थ है । इस प्रकार यदि कर्मोंकी अपेक्षा रखनेवाला ईश्वर जगतका कारण होवे अर्थात् जगतरूपकार्यका कर्त्ता होवे; तो
कर्ममें ईश्वरपना सिद्ध होगा और ईश्वर जो है सो अनीश्वर (असमर्थ) हो जावेगा ।

तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वगृह एव प्रणिगद्यमानं हृद्यम् । स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा । प्रथमविधायां जगन्निर्माणात्कदाचिदपि नोपरमेत । तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः । एवं च सर्गक्रि-

याया अपर्यवसानादेकस्यापि कार्यस्य न सृष्टि । घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्य परिसमाप्तेरपान्त्यक्षणं यावन्निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेशमासादयति । जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात् ।

अब जो तुम ईश्वरको नित्य कहते हो, सो भी तुम्हारे घरमें ही कहा हुआ अच्छा लगता है, अर्थात् अपने मतवालोंमें तुम चाहे ईश्वरको नित्य कहलो, परन्तु हमारे सामने ईश्वरको नित्य नहीं कह सकते हो। क्योंकि वह ईश्वर नित्य होनेसे एकरूपका धारक है, इसकारण हम पूछते हैं कि, वह ईश्वर तीन जगतको रचनेवाले स्वभावको धारण करता है ? अथवा तीन जगतकी रचना करनेवाला जो स्वभाव है, उसको नहीं धारण करता है ? यदि कहो कि तीन जगतको रचनेवाले स्वभावका धारक है, तब तो वह जगतके बनानेसे कभी भी विश्राम न लेवे, और यदि विश्राम लेलेवे तो उसके स्वभावका नाश हो जावे । भावार्थ—जब वह जगतकी रचना करनेरूप स्वभावका ही धारक है। तो सदाकाल जगतरूप कार्यको करता ही रहेगा और ऐसा माने पर ईश्वर जो जगतको रचनेरूप क्रिया करता है, उसकी समाप्ति न होनेसे एक भी कार्यकी रचना न होगी । क्योंकि निश्चयनयके अभिप्रायसे घट जो है सो अपनी रचना प्रारंभ होनेके प्रथम क्षणको लेकर अपनी रचनाकी समाप्तिके अंतिम क्षण पर्यन्त घट इस व्यवहारको नहीं प्राप्त होता है । क्योंकि जबतक वह बन न चुके, तबतक जलको ग्रहण करना इत्यादिरूप जो अर्थक्रिया है, उसमें असाधकतम है अर्थात् वह घट बन चुकने विना जल भरने आदिमें असमर्थ है ।

अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत्तत्स्वभावायोगाद्गगनवत् । अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत्संहारोऽपि न घटते । नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्ते । स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत्तेनैव तानि संहरेत् स्वभावान्तरेण वा । तेनैव चेत्सृष्टिसंहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्ग । स्वभावाभेदात् । एकस्वभावात्कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावाऽन्तरेण चेन्नित्यत्वहानि । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः । यथा पार्थिवशरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वाऽपूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टश्च भवता सृष्टिसंहारयोः शम्भोः स्वभावभेद । रजोगुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संहरणे, सात्त्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात् । एवं चावस्थाभेदस्तद्भेदे चावस्थावतोऽपि भेदान्नित्यत्वक्षति ।

यदि कहो कि, ईश्वर तीन जगतकी रचना करने रूप स्वभावका धारक नहीं है, तो वह ईश्वर कदाचित् भी जगतका निर्माण नहीं

करे। क्योंकि जैसे आकाश जगत रचनेरूप स्वभावका धारक नहीं है, इसकारण जगतको नहीं रचता है, वैसे ही ईश्वर भी जगतके रचनेके स्वभाववाला न होनेसे जगतको नहीं रच सकता है। और भी विशेष यह है कि, यदि ईश्वर सर्वथा नित्यस्वभावका ही धारक होवे तो जैसे उसके नित्य होनेसे जगतकी रचना सिद्ध नहीं होती है, वैसे ही ईश्वरकी नित्यतामें जगतका संहार (नाश अथवा प्रलय) भी नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि वह ईश्वर जिस स्वभावसे तीनों लोकोंको रचता है, उसी स्वभावसे उन तीनों लोकोंका नाश करता है? वा किसी दूसरे स्वभावसे तीन जगतका संहार करता है? यदि कहो कि, ईश्वर जिस स्वभावसे जगतको रचता है, उसी स्वभावसे जगतको नष्ट भी करता है; तब तो जगतकी रचना और जगतका नाश ये दोनो एक ही समयमें होवें ऐसा प्रसग होगा। कारण कि स्वभावका अभेद है. अर्थात् ईश्वर जगतके रचने और नष्ट करनेमें एकही स्वभावका धारक है। क्योंकि एक स्वभावरूप जो कारण है, उससे अनेक स्वभावरूप कार्योंकी उत्पत्तिमे विरोध है। अर्थात् एक स्वभावरूप कारणसे अनेक स्वभाववाले कार्य नहीं हो सकते है। यदि कहो कि, ईश्वर जिस स्वभावसे जगतको रचता है, उसी स्वभावसे जगतका नाश नही करता है, किन्तु दूसरे स्वभावसे जगतका संहार करता है, तो ईश्वरके जो नित्यता है, उसका नाश हो जावेगा। क्योंकि जो स्वभावका भेद है, वही अनित्यका लक्षण है। जैसे कि–आहारके परमाणुओंसे सहायको प्राप्त हुआ जो पार्थिव शरीर है, उसमें प्रतिदिन अपूर्व अपूर्व उत्पत्ति होनेके कारण स्वभावका भेद है, इसकारण वह अनित्य है। **भावार्थ**—जैसे हमारे तुम्हारे शरीरमें प्रतिदिन नवीन नवीन आकृति आदि होनेसे स्वभावका भेद है और स्वभावभेदके होनेसे ही हमारा तुम्हारा शरीर अनित्य है, उसी प्रकार ईश्वरके स्वभावका भेद माननेपर ईश्वर भी अनित्य हो जावेगा। और जगतकी रचना तथा संहारमें शभु (ईश्वर)के स्वभावका भेद होना तुमको इष्ट ही है। क्योंकि तुमने 'ईश्वर रजोगुणरूप होकर जगतकी रचनामें, तमोगुणस्वरूपका धारक होकर जगतके नष्ट करनेमें और सात्विकपनेसे जगतकी स्थिति (रक्षा) में व्यापार करता है, ऐसा स्वीकार किया है। और इस प्रकार भिन्न २ गुणरूप होकर कार्य करनेमें ईश्वरकी अवस्थायें भी जुदी जुदी हुई और उन जुदी २ अवस्थाओंके होनेसे अवस्थाओंका धारक जो ईश्वर है, उसका भी भेद हुआ अर्थात् रजोगुणरूप अवस्थाका धारक जो ईश्वर है, उस ईश्वरसे तमोगुणरूप अवस्थावाला ईश्वर भिन्न हुआ। और ऐसा हुआ तो ईश्वरकी नित्यताका नाश हुआ अर्थात् ईश्वर नित्य न रहा।

अथास्तु नित्यः सस्तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते। इच्छावशाच्चेन्ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्ध-

नात्मलाभा सदैव कि न प्रवर्तयन्तीति स एवोपालम्भ । तथा शम्भोरष्टगुणाऽधिकरणत्वे कार्यभेदाऽनुमेयाना तदिच्छानामपि विषमरूपत्वान्नित्यत्वहानि केन वार्यते ।

फिर भी यदि तुम यही कहो कि, ईश्वर नित्य ही है, तो अस्तु नित्य ही रहो, परतु तो भी वह ईश्वर सदाकाल जगतके बनानेमें चेष्टा क्यों नहीं करता है अर्थात् निरतर जगतको क्यों नहीं बनाता है ? यदि कहो कि, ईश्वर इच्छाके वशसे निरतर जगतको नहीं रचता है अर्थात् जब ईश्वरको जगतके रचनेकी इच्छा नहीं रहती है, तब जगतका बनाना छोड़ देता है, तो हम पूछते है कि, अपनी विद्यमानतारूप कारणसे निज सरूपको धारण करनेवाला वे इच्छायें सदा क्यों नही प्रवर्त्ताती है । भावार्थ—इच्छायें जबतक ईश्वरमें विद्यमान रहेंगी तबतक ही इच्छा कह लायेंगी इस कारण वे इच्छायें जगतके रचनेमें ईश्वरको सदा ही क्यों नहीं लगाती हैं ? इस प्रकार जो पहले उपालभ था, वही यहा भी हुआ अर्थात् जैसे पहले ईश्वर सदा जगतको क्यों नहीं रचता है ' यह दोष दिया है, वैसा ही यहा 'इच्छायें सदा ईश्वरको जगतके रचनेमें क्यों नहीं लगाती है' यह दोष है । और जब तुम ईश्वरको, बुद्धि १ इच्छा २ प्रयत्न ३ सख्या ४ परिमाण ५ पृथक्त्व ६ सयोग ७ और विभाग ८ इन आठ गुणोंका अधिकरण मानते हो अर्थात् ईश्वरमें बुद्धि आदि ८ गुण सदा समानरूपसे रहते है ऐसा कहते हो, तब कार्यभेदसे अनुमान करनेयोग्य ऐसी जो ईश्वरकी इच्छाये है, उनकी विषमरूपतासे उत्पन्न हुई नित्यताकी हानिको कौन दूर करेगा । भावार्थ—ईश्वरमें इच्छायें सदा समान रहनी चाहियें । परतु जगतमें जो नाना प्रकारके कार्य देखते है, इससे अनुमान होता है कि, ईश्वरकी इच्छायें भी नाना प्रकारकी है अर्थात् विषम है और जब ईश्वरकी इच्छायें विषम हुई तो ईश्वर अनित्य होयगा ।

किञ्च प्रेक्षावता प्रवृत्ति स्वार्थकारुण्याभ्या व्याप्ता । ततश्चाय जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्कारुण्याद्वा । न तावत्स्वार्थात्तस्य कृतकृत्यत्वात् । न च कारुण्यात्परदु खप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम् । तत प्राक्सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दु खाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् । सर्गोत्तरकाले तु दु खिनोऽवलोक्य कारुण्याऽभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयम् । कारुण्येन सृष्टि सृष्ट्या च कारुण्यम् । इति नास्य जगत्कर्तृत्व कथमपि सिद्ध्यति ।

और भी विशेष यह है कि, जो प्रेक्षावान् (विचारशील) पुरुष है, उनकी प्रवृत्ति स्वार्थ और कारुण्यसे व्याप्त

---

१ बुद्धीच्छाप्रयत्नसख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागाख्याष्टगुणाधिकरणत्वे ।

होती है अर्थात् विचारवान् या तो अपने प्रयोजनसे किसी कार्यको करते हैं, और या करुणाबुद्धिको धारणकर परोपकारके लिये किसी कार्यको करते है। इस कारण यह ईश्वर जगतके रचनेमें स्वार्थसे व्यापार करता है? अथवा करुणाभावसे व्यापार करता है, अर्थात् लगता है। यदि कहो कि, ईश्वरकी जगतकी रचनामें स्वार्थसे प्रवृत्ति होती है, सो तो नहीं। क्योंकि वह ईश्वर कृतकृत्य है अर्थात् उसको कोई भी कार्य करना न रहा, इस कारण कृतार्थ है। यदि कहो कि ईश्वर जगतकी रचनामें कारुण्यसे प्रवृत्ति करता है। सो भी नहीं। क्योंकि दूसरेके दुःखोंको दूर करनेकी जो इच्छा है, वह कारुण्य कहलाता है, इसकारण ईश्वरने जब जगत नहीं रचा था, उस समय जीवोंके इंद्रिय, शरीर और विषयोंकी उत्पत्ति न होनेसे दुःखका अभाव था अर्थात् इंद्रिय, शरीर तथा विषयोंसे दुःख उत्पन्न होता है और वे इंद्रियआदि जीवोंके थे नहीं, फिर किसको दूर करनेकी इच्छा हुई जिससे कि, ईश्वरने कारुण्यसे जगतको रचा। और जगतको रचनेके पीछे दुःखी जीवोंको देखकर ईश्वरने कारुण्य धारण किया, ऐसा मानो तो इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) नामक दोष नहीं दूर हो सकता है। क्योंकि कारुण्यसे जगतकी रचना हुई और जगतकी रचनासे कारुण्य हुआ। इस कारण ईश्वरके जगतका कर्तापना किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सकता है।

तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति। अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनो नकारस्य घण्टालालान्यायेन योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति। यथा 'इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न स्युर्येषां त्वमनुशासक' इति। तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयः। अन्ययोगव्यवच्छेदस्याधिकृतत्वात्। इति काव्यार्थः ॥ ६ ॥

सो इस प्रकार अनेक दोषोंसे दूषित पुरुषविशेष (ईश्वर) में जो वैशेषिकोंका सेवामें आग्रह है, वह बलवान जो मोह है, उसकी विडम्बनाका परिपाक (उदय अथवा फल) है। और "**इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्।**" यहां पर मध्यवर्त्ती जो नकार है, उसका घंटालालान्यायसे अन्वय करनेपर दूसरा अर्थ भी निकलता है अर्थात् जैसे—घंटामें जो टोकरी रहती है, वह घंटाके दोनों तरफको लगती है, इसीप्रकार मध्यवर्त्ती नकारका भी दो प्रकारसे अन्वय होता है। जैसे—कि, यह कदाग्रहरूप विडम्बनायें उनके न होवें, जिनके कि, आप हितोपदेशक हे। तथापि यह अर्थ सहृदयों (मर्मवेत्ताओं) को हृदयमें न धारण करना चाहिये। क्योंकि यहां स्तुतिकारने अन्ययोगव्यवच्छेदका अवलम्बन किया है। इस प्रकार काव्यका अर्थ है। ६।

अथ चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्म्मा आत्मादेर्घटादेश्च धर्म्मिणोऽत्यन्त व्यतिरिक्ता अपि समवायसम्बन्धेन सबद्धा सन्तो धर्म्मधर्म्मिव्यपदेशमश्नुवते । तन्मत दूषयन्नाह ।

अब "यद्यपि जीवादिक धर्मीसे ज्ञानादिक धर्म और घटादिक धर्मीसे रूपआदि धर्म अत्यन्त भिन्न है अर्थात् गुणीसे गुण सर्वथा भिन्न है, तथापि परस्पर भिन्नरूप ये दोनो धर्म और धर्मी समवायसबधसे परस्पर सबधको प्राप्त होकर धर्मधर्मिव्यवहारको अर्थात् यह पदार्थ धर्मी (धर्मको धारण करनेवाला) है और ये इसमें रहनेवाले धर्म (गुण) है, इस व्यवहारको प्राप्त होते है" इस वैशेषिकोंके[1] मतको दूषित करते हुए ग्रन्थकार इस अग्रिम काव्यका कथन करते है ।

न धर्म्मधर्म्मित्वमतीवभेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितय चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ न गौणभेदोऽपि च लोकवाध ॥ ७ ॥

काव्यभावार्थ —धर्म और धर्मीको सर्वथा भिन्न माननेमें धर्मधर्मिव्यवहार नहीं होता है । यदि वादी कहें कि, समवायसबधसे परस्पर भिन्नरूप धर्म और धर्मीका एक दूसरेके साथ सबध हो जाता है, अत धर्मधर्मिव्यवहार होता है । सो नहीं । क्योंकि जैसे—धर्म और धर्मी इन दोनोंका ज्ञान होता है, उसी प्रकार समवायका ज्ञान नही होता है । फिर यदि वादी कहे कि, 'यहा यह है' इस प्रकारके इह प्रत्ययसे समवायका ज्ञान होता है, तो 'यहा यह है' इस प्रकारकी बुद्धि समवायमें भी है । इस कारण उस समवायमें सबधका कारण दूसरा समवाय और उसमे भी दूसरा समवाय माननेसे अनवस्था होगी । यदि वादी कहें कि, समवायमें समवायत्व गौणरूपसे है । सो भी ठीक नहीं है । और इहप्रत्ययसे समवायको सिद्ध करनेमें लोकसे भी विरोध होता है ॥ ७ ॥

---

1 वैशषिकाणां मते उत्पन्न द्रव्य क्षणमगुण तिष्ठतीति ।

व्याख्या । धर्म्मधर्म्मिणोरतीवभेदेऽतीवेत्यत्रेवशब्दो वाक्यालङ्कारे । तं च प्रायोऽतिशब्दात्किंवृत्तेश्च प्रयुञ्जते शाब्दिकाः । यथा " आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्" "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्" इत्यादि । ततश्चैकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे धर्म्मधर्म्मित्वं न स्यात् । अस्य धर्मिण इमे धर्म्मा एषां च धर्म्माणामयमाश्रयभूतो धर्म्मीत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्म्मधर्म्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति । तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां पदार्थान्तरधर्म्माणामपि विवक्षितधर्म्मधर्म्मित्वापत्तेः ।

व्याख्यार्थः—"अतीवभेदे" धर्म (गुण) और धर्मी (गुणी) इन दोनोंको अत्यन्त भिन्न माननेपर ['अतीव' यहांपर जो अति के साथ 'इव' का योग (अति×इव=अतीव) है, वह वाक्यके अलंकारमें है और शाब्दिक (व्याकरणके जाननेवाले) पुरुष इस 'इव' शब्दका प्रायः अतिशब्दके साथ, किंवृत्ति ('किम्' शब्दके साथ समासको प्राप्त हुए शब्द) के साथ तथा किंशब्दके साथ योग किया करते हैं । जैसे कि " आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम् । " "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम् । " यहांपर किंवृत्ति और किंशब्दके साथ 'इव' का योग किया गया है ।] " धर्मधर्मित्वं " धर्मधर्मीपना अर्थात् इस धर्मीके ये धर्म हैं, और इन धर्मोंका यह आधारभूत (रहनेके स्थानरूप), धर्मी है, इसप्रकारका जो सर्वप्रसिद्ध धर्मधर्मिव्यवहार है, वह नहीं होता है । क्योंकि यदि धर्म और धर्मीके परस्पर अत्यंत भेद होनेपर भी जो धर्मधर्मिभावकी कल्पना करोगे तो अन्यपदार्थोंके जो धर्म हैं, उनके भी विवक्षित धर्मधर्मिभाव हो जावेगा । भावार्थ–वैशेषिकमतमें द्रव्य (धर्मी) और गुण (धर्म) इन दोनोंको सर्वथा भिन्न माने गये है । क्योंकि ' जो द्रव्य उत्पन्न होता है, वह प्रथमक्षणमें गुणोंसे रहित ही रहता है, ऐसा उनका मत है । इसकारण शास्त्रकार कहते हैं कि, यदि परस्पर भेदके धारक धर्म और धर्मीके धर्मधर्मिभाव मानोगे, तो एक पदार्थका धर्म किसी दूसरे पदार्थका धर्म हो जावेगा अर्थात् जब अग्निके उष्णत्वधर्मका अग्निके साथ और जलके शीतत्वधर्मका जलके साथ सर्वथा भेद होगा तब जलका शीतत्व धर्म अग्निका धर्म हो जावेगा और अग्निका उष्णत्वधर्म जो है, वह जलका धर्म हो जावेगा । क्योंकि धर्म धर्मीके सर्वथा भेद होनेसे यह धर्म इसी धर्मीका है, ऐसा कोई नियामक [नियम करानेवाला] नहीं है ।

एवमुक्ते सति परः प्रत्यवतिष्ठते । वृत्त्यास्तीति । अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः । स च समवयनात्समवाय इति, द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् वृत्तिरिति चा-

र्यायते । तया वृत्त्या समवायसम्बन्धेन तयोर्धर्म्मधर्म्मिणोरितरेतरविनिर्लुण्ठितत्वेऽपि धर्म्मधर्म्मिव्यपदेश इ-
ष्यते । इति नानन्तरोक्तो दोष इति ।

इस प्रकार शास्त्रकारके कहने पर वादी उत्तर देते है कि, " वृत्त्या " वृत्ति (समवाय) से " अस्ति " हे । भावार्थ—
अयुतसिद्ध [एक दूसरेके विना कदापि नहीं रहनेवाले] ऐसे जो आधार्य [रहने योग्य] ओर आधार (रहनेके स्थानभूत]
पदार्थ हैं, उनमें 'यहा यह हे' इस ज्ञानका कारणभूत जो सबध हे, उसको समवाय कहते हैं। वह समवाय एक दूसरेको परस्पर
सबधित करनेसे अर्थात् अवयवको ओर अवयवीको, जातिको ओर व्यक्तिको, गुणको और गुणीको, क्रियाको और क्रियावानको
नित्यद्रव्यको तथा विशेषको मिलानेसे समवाय कहलाता है, ओर द्रव्य १ गुण २ कर्म ३ सामान्य ४ और विशेष ५ इन पाचोंमें
रहनेसे वृत्ति कहलाता हे । उस समवायसबधसे उन दोनों धर्मधर्मियोंके परस्पर भेद होनेपर भी हम धर्मधर्मिव्यवहार मानते हैं।

अत्राचार्य समाधत्ते । चेदिति। यद्येव तव मति सा प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्ता। यतो न त्रितय चकास्ति। अय धर्मी, इमे
चास्य धर्म्मा, अय चैतत्सम्बन्धनिबन्धन समवाय इत्येतत्त्रितय वस्तुत्रय न चकास्ति ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते।
यथा किल शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनुसन्धायक रालादिद्रव्य तस्मात्पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते । नैवमत्र
समवायस्याऽपि प्रतिभानम् । किन्तु द्वयोरेव धर्म्मधर्म्मिणो । इति शपथप्रत्यायनीयोऽय समवाय इति भावार्थ ।

अब आचार्य इस उपर्युक्त वादीकी शकाका समाधान करते हे कि, " चेत् " यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि हे, तो वह प्रत्यक्षसे
खडित है अर्थात् तुम जो समवायसबधसे धर्मधर्मिभावको सिद्ध करते हो, उसका प्रत्यक्षप्रमाणसे खडन होता हे । क्योंकि
" त्रितय " तीन " न " नहीं " चकास्ति " प्रतिभासते हैं । अर्थात् यह धर्मी हे, ये इस धर्मी के धर्म है ओर यह इन
दोनों धर्मधर्मियोंके सबधका कारणभूत समवाय हे, इसप्रकार ये तीन पदार्थ ज्ञानकी विषयतासे प्रतिभासित नहीं होते हैं।
अर्थात् जाननेमें नहीं आते है । भावार्थ—जैसे शिला [एक प्रकारके पत्थर]के दो टुकड़ोंको जोडनेवाला राल आदिक द्रव्य तीसरे
रूपसे भासता है अर्थात् जेसे शिलाके दो टुकड़ोंका जुदा जुदा ज्ञान होता है, उसी प्रकार उनका सबध करानेवाला राल आदि
द्रव्य भी भिन्न जाना जाता है । इसी प्रकार यहा समवायका भी प्रतिभास होना चाहिये, परतु नही होता है, किंतु धर्म तथा धर्मी
इन दोका ही प्रतिभास होता हे । इस कारण धर्म ओर धर्मीका सबध करानेवाले समवाय नामक भिन्न पदार्थको जो तुम सिद्ध

करते हो; सो सौगन खाकर विश्वास कराने योग्य है अर्थात् प्रत्यक्षसे समवाय सिद्ध नहीं होता है, तो भी तुम हठसे उसको सिद्ध करते हो, इस कारण हम समवायको नहीं मानते है।

किञ्चायं तेन वादिना एको नित्यः सर्वव्यापकोऽमूर्त्तश्च परिकल्प्यते। ततो यथा घटाश्रिताः पाकजरूपादयो धर्म्माः समवायसम्बन्धेन समवेतास्तथा किं न पटेऽपि। तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात्। यथाकाश एको नित्यो व्यापकः अमूर्त्तश्च सन् सर्वैः सम्बन्धिभिर्युगपदविशेषेण संबध्यते तथा किं नायमपीति। विनश्यदेकवस्तुसमवायाऽभावे च समस्तवस्तुसमवायाऽभावः प्रसज्यते। तत्तदवच्छेदकभेदान्नायं दोष इतिचेदेवमनित्यत्वापत्तिः। प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति।

और भी विशेष यह है कि, उन वैशेपिकोंने यह समवाय एक, नित्य, सर्वव्यापक तथा अमूर्त्त माना है, इस कारण जैसे घटमें रहनेवाले पाकज [घटको अग्निमें पकानेसे उत्पन्न होनेवाले) रूप आदिक धर्म समवायसंबंधसे घटमें मिले है, उसीप्रकार पटमें भी क्यों नही मिले। क्योंकि वह समवाय एक, नित्य और व्यापक होनेसे सब पदार्थोंमें समान स्वरूपका धारक है। **भावार्थ—** जैसे–आकाश जो है, वह एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त्त है, इसकारण सब संबंधियोंके साथ एक ही समयमें समानरूपतासे संबध रखता है, उसीप्रकार यह समवाय भी जैसे पाकजरूपका घटके साथ संबंध कराता है, वैसे पटके साथ भी संबंध क्यों नही कराता है। और नष्ट होते हुए किसी एक वस्तुमें समवायका नाश होनेपर समस्त पदार्थोंमें समवायके अभाव होनेका भी प्रसंग होता है. अर्थात् सर्वव्यापक और एक होनेसे समवाय सर्वत्र समान है, इस कारण जब एक पदार्थमें समवायका नाश होवेगा, तब सब पदार्थोंमें समवायका नाश होगा। और यह तुमको इष्ट नहीं है। यदि उस उस अवच्छेदक (भेद करने वाले) के भेदसे यह दोष नहीं है अर्थात् जो घटत्वावच्छेदक समवाय है, वह घटमें रहता है, और जो पटत्वावच्छेदक समवाय है, वह पटमें रहता है, इसकारण जब घटत्वावच्छेदक समवायका नाश होता है तब पटत्वाच्छेदक समवायका नाश नही होता है। ऐसा कहो तो प्रत्येक वस्तुके साथ स्वभावका भेद होनेसे समवायके अनित्यता प्राप्त हो जावेगी अर्थात् घटके साथ अन्यस्वभावसे और पटके साथ अन्यस्वभावसे रहनेके कारण समवाय नित्य न रहेगा।

अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभानम्। यतस्तस्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम्। इहप्रत्ययश्चाऽनुभवसिद्ध

गत । इह तन्तुषु पट, इहात्मनि ज्ञानमिह घटे रूपादय इति प्रतीतेरुपलम्भात् । अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्म्मध- र्म्यनालम्बनत्वादस्ति समवायाख्यं पदार्थान्तर तद्धेतु ।इति पराशङ्कामभिसन्धाय पुनराह । इहेदमित्यस्ति मतिश्च- वृत्ताविति । इहेदमिति इहेदमिति आश्रयाश्रयिभावहेतुक इह प्रत्ययो वृत्तावप्यस्ति समवायसबन्धेऽपि विद्यते । चशब्दोऽपिशब्दार्थस्तस्य च व्यवहितसम्बन्धस्तथैव च व्याख्यातम् ।

अत्र " समवायका मार्गमें प्रतिभासन कैसे नहीं होता है अर्थात् होता ही है । क्योंकि उस समवायका इहप्रत्यय साधक (प्रबल) साधन है, अर्थात् समवायके विना इहप्रत्यय नहीं हो सकता है, इसकारण अर्थापत्तिसे समवाय सिद्ध होता हे । और इन तन्तुओंमें पट है, इस आत्मामें ज्ञान हे तथा इस घटमें रूप आदिक हैं, इस प्रतीतिके प्राप्त होनेसे इहप्रत्यय तो अनुभवसे ही सिद्ध है । और यह इहप्रत्यय केवल धर्मके आधार भी नहीं है और केवल धर्मीके आधार भी नहीं है, इसकारण समवायनामक जो धर्म और धर्मीसे भिन्न एक तीसरा पदार्थ हे, वही इहप्रत्ययका हेतु हे अर्थात् ' यहा यह हे ' ऐसी प्रतीति न तो केवल धर्ममें ही होती है ओर न केवल धर्मीमें ही होती है अत समवाय ही इस प्रतीतिका कारण है । " इस प्रकार वादीकी शकाको चित्तमें धारण करके ग्रन्थकार फिर कहते हैं कि, "इह" यहां " इदम्" यह " अस्ति " है । "इति " इसप्रकारकी "मतिः" बुद्धि जो है सो "वृत्तौ" समवायसबधमें "च" भी "अस्ति" है अर्थात् आधार तथा आधेय ये दोनों है कारण जिसके ऐसा इहप्रत्यय समवायसबधमें भी होता है । ['मतिश्च' यहा 'च' यह शब्द अपि शब्दके अर्थमें है, और उसका व्यवहितसबध है, इसकारण यहां पर उसीरीतिसे इसकी व्याख्या की गई है ।]

इदमत्र हृदयम् । यथा-त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसबन्धात्पृथिवी तत्र पृथिवीत्व पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्य नाऽपर वस्त्वन्तरम् । तेन स्वरूपेणैव सम योऽसावभिसम्बन्ध पृथिव्या स एव समवाय इत्युच्यते। "प्राप्तानामेव प्राप्ति समवाय " इति वचनात् । एव समवायत्वाभिसम्बन्धात्समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते । यतस्तस्याऽपि यत्समवायत्व स्वस्वरूप तेन सार्द्धं सबन्धोऽस्त्येव । अन्यथा नि स्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत् । ततश्च इह समवाये समवायत्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्यय समवायेऽपि युक्त्या घटत एव । ततो यथा पृथिव्या पृथिवीत्व

समवायेन समवेतं समवायेऽपि समवायत्वमेवं समवायान्तरेण संवन्धनीयं तदप्यपरेणेत्येवं दुस्तराऽनवस्थामहानदी।

यहां पर तात्पर्य यह है कि, जैसे तुम्हारे मतमें पृथिवीत्वके संवंधसे पृथिवी है । और उस पृथ्वीमें जो पृथ्वीपना है, वह पृथिवीका ही अस्तित्व नामक धर्म है, अन्य कोई दूसरा पदार्थ नहीं है । और उस पृथिवीत्वरूप अपने स्वरूपके साथ ही जो कोई पृथिवीका संवंध है, उसीको 'प्राप्त हुओंकी जो प्राप्ति है, वह समवाय है' इस वचनसे 'समवाय' ऐसा कहते है । इसीप्रकार 'समवायत्वके संवंधसे समवाय है' यह भी तुम क्यों नहीं मानते हो? । क्योंकि उस समवायका भी समवायत्वरूप निजस्वरूपके साथ संबंध है ही । क्योंकि यदि समवायका समवायत्वके साथ संवंध न होगा तो स्वभावरहित होनेसे शशशृंग (सुस्सेके सींग) के समान समवाय भी अवस्तु ही हो जावेगा अर्थात् जैसे स्वभावरहित होनेके कारण शशशृंग कोई पदार्थ नहीं है, इसी प्रकार स्वभावरहितपनेसे समवाय भी पदार्थ न रहेगा, इस कारण समवायका समवायत्वके साथ संवंध तुमको मानना ही होगा । और जव समवायका समवायत्वके साश संवंध मानोगे तव इस समवायमें समवायत्व है, इस प्रकार कहनेसे समवायमें भी इहप्रत्यय युक्तिसे सिद्ध हो ही जावेगा । अतः जैसे पृथिवीमें पृथिवीत्व समवायसंवंधसे समवेत (मिलाहुआ) है, उसी प्रकार समवायमें भी समवायत्वको दूसरे समवायसे संवंधित करना चाहिये । और उस दूसरे समवायमें जो समवायत्व है, उसको तीसरे समवायसे संवंधित करना चाहिये । और इस प्रकार जव समवायमें समवायत्वको संवंधित करनेके लिये नया २ समवाय मानोगे तव अनवस्था-दोष नामक जो महानदी है, वह दुस्तर (दुःखसे पार पानेवाली) हो जावेगी अर्थात् नये २ समवायोंका कभी अंत ही न आवेगा ।

एवं समवायस्यापि समवायत्वाभिसम्बन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्व्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदति । ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिसम्वन्धनिवन्धनं समवायो मुख्यस्तत्र त्वतलादिप्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य सङ्गृहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात् । इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाऽभावेजातेरनुद्भूतत्वाद्गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसम्वन्धस्तत्साध्यश्च समवाय इति ।

इस प्रकार युक्तिसे समवायका भी समवायत्वके साश संवध है, यह सिद्ध कर चुकने पर फिर भी पूर्वपक्षवादी (वैशेषिक) साहसको धारण करके कहते है कि पृथिवी आदिके साश पृथिवीत्व आदिका संबंध करानेका कारणभूत जो समवाय है, वह मुख्य है । क्योंकि उन पृथिवी आदिमें—'त्व, तल' इत्यादि तद्धितके प्रत्ययोंसे जानने योग्य और पृथिवी आदिमें रहनेवाली जो समस्त

जातियें, लक्षण और व्यक्तिविशेष हैं उनको समट करनेवाले ऐसे सामान्यकी उत्पत्ति हे। और यहा तो समवाय एक है, इसकारण उस समवायमें व्यक्तियोंके भेदका अभाव होने पर जातिकी उत्पत्ति नहीं होती हे। अत आपका इहप्रत्ययसे सिद्ध होने योग्य समवायत्वका समवायके साथ सबध और उस समवायत्वसे साध्य समवाय ये दोनों गौण है।

तदेतन्न विपश्चिच्चेतश्चमत्कारकारणम्। यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्येत। व्यक्तेरभेदेनेतिचेत्। न। तत्तदवच्छेदकवशात्तद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात्। अन्यो हि घटसमवायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति। तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भव.। तस्मादन्यत्रापि मुख्य एव समवाय। इहप्रत्ययस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्।

सो यह तुम्हारा कहना विद्वानोंके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाला नहीं है अर्थात् इस तुम्हारे कथनसे विद्वानोंको संतोष नहीं होता है। क्योंकि इस समवायमें उत्पन्न हुई जातिको कौन रोकता हे? अर्थात् समवायमें जातिको रोकनेवाला कोई भी नहीं हे। यदि कहो कि, व्यक्तिका भेद नहीं हे अर्थात् समवाय एक ही है, इसकारण समवायमें जाति नही हे। सो नहीं। क्योंकि उस उस अवच्छेदकके वशसे उस उस भेदकी उत्पत्ति होनेसे घट समवाय अन्य है, और पट समवाय अन्य है इस प्रकारसे समवायके भी व्यक्तिका भेद प्रकट हो ही गया अर्थात् घटत्वावच्छेदकके वशसे जो घटत्वावच्छेदक समवाय उत्पन्न हुआ है वह भिन्न है और पटत्वावच्छेदकके वशसे उत्पन्न हुआ जो पटत्वावच्छेदकसमवाय है, वह भिन्न है। इसकारण घटसमवाय पटसमवाय इत्यादि भिन्न २ व्यक्तियोंके होनेसे समवायमें व्यक्तिभेद प्रकट ही है। और इसप्रकार जब समवायमें व्यक्तिका भेद सिद्ध हो गया तब व्यक्तिका भेद होनेसे जातिकी भी उत्पत्ति हो ही गई। इस कारण जैसे पृथ्वीमें समवाय मुख्य है, उसी प्रकार समवायमें भी समवाय मुख्य ही हे। क्योंकि इहप्रत्यय जो है, वह पृथिवी और समवाय इन दोनोंमें ही है।

तदेतत्सकल सपूर्वपक्ष समाधान मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राह। न गौण इति। योऽय भेद स नास्ति गौणलक्षणाऽभावात्।१। तल्लक्षण चेत्थमाचक्षते। "अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च। विपरीतो गौणोऽर्थ सति मुख्ये धी कथ गौणे।" तस्माद्धर्मधर्मिणो सम्बन्धने मुख्य समवाय समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्धे गौण इत्ययं भेदो नानात्व नास्तीति भावार्थ ।

इस प्रकार इन समस्त पूर्वपक्षोंको (वादियोंकी शंकाओंको) और उन वादियोंकी शंकाओंके जो ऊपरमें समाधान कर चुके हैं, उनको चित्तमें धारण करके सिद्धान्तवादी आचार्यमहाराज कहते हैं कि, वैशेषिकोंने जो समवायमें समवाय है, उसको गौण कहकर धर्मधर्मीके समवायसे समवायके समवायमें भेद कहा है सो नहीं है। क्योंकि गौणका जो लक्षण है, वह समवायमें नहीं सिद्ध होता है। और गौणका लक्षण इस प्रकार कहते हैं "अव्यभिचारी, अविकल, असाधारण, और अंतरंग ऐसा जो अर्थ है, वह तो मुख्य है, और उससे विपरीत अर्थात् व्यभिचारी, विकल, साधारण तथा वहिरंग अर्थ गौण है. इसकारण मुख्य अर्थके विद्यमान होने पर गौण अर्थमें बुद्धि कैसे होवे ॥ १ ॥"

किञ्च योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात्समवायसाधनमनोरथः स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम्। इह तन्तुषु पट इत्यादेर्व्यवहारस्याऽलौकिकत्वात्पांशुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येवं प्रतीतिदर्शनात्। इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्। अत एवाह। अपि च लोकबाध इति। अपिचेति दूषणाभ्युच्चये। लोकः प्रामाणिकलोकः सामान्यलोकश्च तेन बाधो विरोधो लोकबाधस्तदप्रतीतव्यवहारसाधनात्। बाधशब्दस्य "ईहाद्याः प्रत्ययभेदतः" इति पुंस्त्रीलिङ्गता)। तस्माद्धर्म्मधर्म्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव सम्बन्धः प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायात्। इति काव्यार्थः ॥ ७ ॥

और भी विशेष दोष यह है कि, तुम्हारा जो यह "इन तंतुओंमें पट है" इत्यादिरूप इहप्रत्ययसे समवायको सिद्ध करनेका मनोरथ है, वह नपुंसकसे पुत्र उत्पन्न करनेके मनोरथके समान है। भावार्थ—जैसे नपुंसकसे कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होता है, इसी प्रकार इस इहप्रत्ययसे भी समवाय सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि इन तंतुओंमें पट है, इत्यादि व्यवहार लोकसे विरुद्ध है। कारण कि जो पांशुलपाद (धूलिके धारक चरणोंवाले) अर्थात् गांवके लोग हैं, उनके भी इस पटमें तंतु हैं, ऐसी ही प्रतीति देखी जाती है। और इन तंतुओंमें पट है ऐसी प्रतीति नहीं देखते हैं। भावार्थ—ग्रामवासी मूर्ख लोग भी पटमें तंतु हैं, ऐसा मानते हैं। विद्वानोंका तो कहना ही क्या? और तुम इन तंतुओंमें पट है, ऐसा लोकविरुद्ध मत स्वीकार करके उससे समवायको सिद्ध करते

हो। इसकारण मूर्खोंसे भी गये बीते हो। और 'यहा यह है' इस इहप्रत्ययसे ही समवायको सिद्ध करोगे तो इस भूतलमें घटका अभाव है, यहां भी समवाय मानना पड़ेगा। और यह तुमको इष्ट नहीं है। "अपि च" और भी दोष यह है कि [यहा अपिच यह शब्द दूषणोंके समूहको दिखलाने वाले अर्थका धारक है।] "लोकबाध." लोकसे अर्थात् प्रामाणिक (न्यायके जाननेवाले) जन है, उनसे और जो सामान्यपुरुष है, उनसे भी विरोध होगा। क्योंकि तुम उनकी प्रतीतिमें नहीं आनेवाला ऐसा जो व्यवहार है, उसको सिद्ध करते हो। [यहा पर बाधशब्द पुलिंग है। क्योंकि 'ईहाद्या प्रत्ययभेदत' इस सूत्रसे बाध शब्द पुलिंग और स्त्रीलिंग, इन दोनोंमें ही होता है।] इस कारण धर्म और धर्मीके अविष्वग्भावलक्षणका धारक अर्थात् तादात्म्यरूप ही सबध मानना चाहिये। और समवायसे सबध न मानना चाहिये। भावार्थ—धर्म और धर्मीके परस्पर समवायसे सबध होता है, ऐसा माननेमें पूर्वोक्त प्रकारोसे अनेक दोष आते है, इस कारण धर्म और धर्मी, इन दोनोंके तादात्म्यसबध है अर्थात् धर्म और धर्मी अभिन्न हे। यह ही स्वीकार करना चाहिये। इसप्रकार काव्यका अर्थ है ॥ ७ ॥

अथ सत्ताभिधान पदार्थान्तरमात्मनश्च व्यतिरिक्त ज्ञानाख्य गुणमात्मविशेषगुणोच्छेदस्वरूपा च मुक्तिमज्ञानादङ्गीकृतवत परानुपहसन्नाह।

अब सत्तानामक एक भिन्न पदार्थको, आत्मासे भिन्न ज्ञाननामक गुणको तथा आत्माके विशेषगुणोंका नाश होनेरूप मोक्षको अज्ञानसे माननेवाले वैशेषिकोका हास्य करते हुए शास्त्रकार इस अग्रिम काव्यका कथन करते है।

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत्।
न संविदानन्दमयी च मुक्ति. सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयै. ॥ ८ ॥

काव्यभावार्थ—हे नाथ! जो सत् पदार्थ हैं, उनमें भी किसी किसीमें सत्ता है अर्थात् सब सत्पदार्थोंमें सत्ता नहीं है १ ज्ञान उपाधि जनित है, इसकारण आत्मासे भिन्न है २ और मोक्ष जो

है, वह ज्ञान तथा सुखरूप नहीं है ३ इस प्रकार इन तीनों मतोंका समर्थन करते हुए आपकी आज्ञासे बाह्य ऐसे वैशेषिकोंने बहुत अच्छे शास्त्र रचे हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या। वैशेषिकाणां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षट्पदार्थास्तत्त्वतयाऽभिप्रेताः। तत्र पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशः कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि। गुणाश्चतुर्विंशतिस्तद्यथा—रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्चेति सूत्रोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च सप्त—द्रवत्वं गुरुत्वं संस्कारः स्नेहो धर्म्माधर्म्मौ शब्दश्च। इत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदात्त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वाच्छौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावान्नाधिक्यम्। कर्माणि पञ्च। तद्यथा—उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति। गमनग्रहणाद्भ्रमणरेचनस्पन्दनाद्यविरोधः।

व्याख्यार्थः—वैशेषिकोंके मतमें द्रव्य १ गुण २ कर्म ३ सामान्य ४ विशेष ५ और समवाय ६ नामक छः पदार्थ तत्त्वरूपसे माने गये है। इन छः पदार्थोंमें—पृथिवी १ जल २ तेज ३ वायु ४ आकाश ५ काल ६ दिशा ७ आत्मा ८ और मन ९ ये नौ द्रव्य हैं। १। गुण चौवीस है, वे इस प्रकारसे है—रूप १ रस २ गंध ३ स्पर्श ४ संख्या ५ परिमाण ६ पृथक्त्व ७ संयोग ८ विभाग ९ परत्व १० अपरत्व ११ बुद्धि १२ सुख १३ दुःख १४ इच्छा १५ द्वेष १६ और प्रयत्न १७ ऐसे सतरह तो सूत्रमें कहे हुए तथा द्रवत्व १ गुरुत्व २ संस्कार ३ स्नेह ४ धर्म ५ अधर्म ६ और शब्द ७ ये सात च शब्दसे ग्रहण किये हुए; एवं कुल मिलाकर चौवीस २४ गुण है। इन गुणोंमें यद्यपि संस्कारनामक गुण—वेग, भावना तथा स्थितिस्थापकरूप भेदोंसे तीन प्रकारका है, तथापि संस्कारत्वजातिकी अपेक्षासे एकरूप है; इस कारणसे और शौर्य, औदार्य आदिका यहां ही अन्तर्भाव होनेसे अर्थात् जैसे शौर्यका प्रयत्नमें अन्तर्भाव है; इसीप्रकार कोई किस गुणमें और कोई किस गुणमें अन्तर्गत हो जाते है, इसकारणसे गुण चौवीस ही है, अधिक नहीं हैं। १। निम्नलिखित प्रकारसे कर्म पांच हैं—उत्क्षेपण (ऊंचा फैंकना) १ अवक्षेपण

१. उत्क्षेपणत्वजातिमदूर्ध्वदेशसंयोगकारणं कर्मोत्क्षेपणम्। १। अपक्षेपणत्वजातिमदधोदेशसंयोगकारण कर्मापक्षेपणम्। २। आकुञ्चनत्वजातिमद्वक्रत्वापादकं कर्माकुञ्चनम्। ३। प्रसारणत्वजातिमदृजुत्वापादक कर्म प्रसारणम्। ४। गमनत्वजातिमदनियतदेशसंयोगकारणं कर्म गमनम्। ५। इति कर्मपञ्चकव्याख्या। २. ख–ग. पुस्तकयोः स्पन्दनेति पाठः।

(नीचा फैकना) २ आकुञ्चन (सिकुचाना) ३ प्रसारण (फैलाना) ४ और गमन ५ ऐसे पाच कर्म हैं। इनमें गमनका ग्रहण करनेसे भ्रमण, रेचन, स्पदन आदिसे विरोध नहीं है।

अत्यन्तव्यावृत्ताना पिण्डाना यत कारणादन्योऽन्यस्वरूपानुगम प्रतीयते तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतु सामान्यम्। तच्च द्विविध परमपर च। तत्र पर[1] सत्ताभावो महासामान्यमिति चोच्यते। द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्याऽपेक्षया महाविषयत्वात्। अपरसामान्य च द्रव्यत्वादि। एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते। तथाहि–द्रव्यत्व नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात्सामान्यम्। गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेष। तत कर्मधारये सामान्यविशेष इति। एव द्रव्यत्वापेक्षया पृथिवीत्वादिकमपर तदपेक्षया घटत्वादिकम्। एव चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्व सामान्यम्। द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेष। एव गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिक तदपेक्षया नीलत्वादिकम्। एव पञ्चसु कर्मसु वर्त्तनात्कर्मत्व सामान्यम्। द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेष। एव कर्मत्वापेक्षया उत्क्षेपणत्वादिक ज्ञेयम्।

अत्यन्त व्यावृत्त (भिन्न) ऐसे पदार्थोंका जिस कारणसे परस्पर स्वरूपका अनुगम जाना जाता है, वह अनुवृत्तिप्रत्ययका कारण सामान्य है। अर्थात् परस्पर भिन्न पदार्थोंमें समान अशको ग्रहण करके उनके एकताको करनेवाला है, वह सामान्य है। वह दो प्रकारका है। एक तो परसामान्य और दूसरा अपरसामान्य। इनमें जो परसामान्य है, वह सत्ताभाव तथा महासामान्य भी कहलाता है। क्योंकि यह परसामान्य द्रव्यत्वादिके अन्तर्गत जो सामान्य है, उसकी अपेक्षासे अधिक विषयको धारण करता है। अर्थात् द्रव्यत्व द्रव्यमें ही रहता है और यह परसामान्य द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनोंमें रहता है, अत महाविषयका धारक है। द्रव्यत्व आदि जो है, वह अपरसामान्य है। इस अपरसामान्यको सामान्यविशेष इस प्रकार भी कहते हैं अर्थात सामान्यविशेष यह भी इस अपरसामान्यका ही नाम है। सो ही दिखलाते हैं अर्थात् इस अपरसामान्यको सामान्यविशेष क्यों कहते हैं, इस विषयको निम्नलिखित प्रकारसे स्पष्ट करते हैं—द्रव्यत्व जो है, वह पृथिवी आदि नवों ही द्रव्योंमें रहता है, इस कारणसे तो सामान्य है। और यह द्रव्यत्व–गुण तथा कर्मोंसे व्यावृत्त (रहित) है, अत इत्वा विशेष है। और जब द्रव्यत्व एक अपेक्षासे सामान्य हुआ तथा दूसरी अपेक्षासे विशेष हुवा तब कर्मधारयसमासमें सामान्य जो हो, और विशेष जो हो, वह

---

१ द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।

सामान्यविशेष है,' इस प्रकार समास होनेसे सामान्यविशेष हो गया। जिस प्रकारसे महासामान्यकी अपेक्षासे द्रव्यत्व अपरसामान्य है, इसी प्रकारसे द्रव्यत्वकी अपेक्षासे पृथिवीत्व जो है, वह अपरसामान्य है और पृथिवीत्वकी अपेक्षासे घटत्व अपरसामान्य है। इसीरीतिसे गुणत्व जो है सो चौवीसों गुणोंमे रहनेसे सामान्य है और यही गुणत्व द्रव्योंसे तथा कर्मोंसे रहित होनेके कारण विशेष भी है। इसी प्रकार गुणत्वकी अपेक्षासे रूपत्वादिक अपरसामान्य है और रूपत्वादिकी अपेक्षासे नीलत्वादि अपर सामान्य है। एवमेव कर्मत्व जो है, वह उत्क्षेपणादि पाचों कर्मोंमें रहता है। इसकारण सामान्य है और यही कर्मत्व द्रव्यो तथा गुणोंसे रहित होनेसे विशेष है। तथा जैसे द्रव्यत्वकी अपेक्षासे पृथिवीत्व अपरसामान्य है, उसीप्रकार यहां भी कर्मत्वकी अपेक्षासे उत्क्षेपणत्व आदिको अपरसामान्य समझ लेना चाहिये।

तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कया युक्त्येति चेत्–उच्यते। न द्रव्यं सत्ता द्रव्यादन्येत्यर्थः। एकद्रव्यवत्त्वादेकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः। द्रव्यत्ववत्। यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति। किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव। एवं सत्तापि। वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं[1] वा द्रव्यम्। अनेकद्रव्यं[2] वा द्रव्यम्। तत्राऽद्रव्यमाकाशः कालो दिगात्मामनःपरमाणवः। अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः। एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति। एकद्रव्यवती च सत्ता। इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वान्न द्रव्यम्। एवं न गुणः सत्ता। गुणेषु भावाद् गुणत्ववत्। यदि हि सत्ता गुणः स्यान्न तर्हि गुणेषु वर्त्तेत। निर्गुणत्वाद् गुणानाम्। वर्त्तते च गुणेषु सत्ता। सन् गुण इति प्रतीतेः। तथा न सत्ता कर्म। कर्मसु भावात्कर्मत्ववत्। यदि च सत्ता कर्म स्यान्न तर्हि कर्मसु वर्तेत। निष्कर्मत्वात्कर्मणां। वर्तते च कर्मसु भावः। सत् कर्मेति प्रतीतेः। तस्मात्पदार्थान्तरं सत्ता।

यदि प्रश्न करो कि, सत्ता (सामान्य) जो है, वह द्रव्य, गुण तथा कर्मसे भिन्न पदार्थ किस युक्तिसे है ? तो उत्तर यह है कि, सत्ता द्रव्य नही है अर्थात् द्रव्यसे भिन्न है। क्योंकि एकद्रव्यवाली है अर्थात् एक एक द्रव्यके प्रति रहती है। द्रव्यत्वके समान अर्थात् जैसे द्रव्यत्व नौ ९ द्रव्योंमेंसे प्रत्येक द्रव्यमें रहता है, इस कारण द्रव्य नहीं है; किन्तु सामान्यविशेषरूप लक्षणका

---

१. द्रव्यं द्विधा–अद्रव्यं अनेकद्रव्य च। न विद्यते द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तदद्रव्यं द्रव्यम्। २. अनेकं द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तदनेकद्रव्यं द्रव्यम्।

धारक द्रव्यत्व ही है, इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें रहनेसे सत्ता भी द्रव्य नहीं है। भावार्थ—वैशेषिकोंके मतमें या तो अद्रव्य अर्थात् जो द्रव्यसे उत्पन्न न हुआ हो अथवा द्रव्यका उत्पादक न हो, वह द्रव्य है और या अनेकद्रव्य अर्थात् जो अनेकद्रव्योंसे उत्पन्न होवे या अनेक द्रव्योंका जनक होवे, वह द्रव्य है। उनमें आकाश, काल, दिशा, आत्मा मन और परमाणु ये अद्रव्य द्रव्य हैं, और द्व्यणुक (दो अणुके धारक) आदि जो स्कंध हैं, वे अनेकद्रव्य द्रव्य हैं। और एकद्रव्यका धारक तो द्रव्य ही नहीं है। और सत्ता एकद्रव्यवाली है, इसकारण द्रव्यका जो लक्षण है, उससे भिन्न लक्षणको धारण करनेसे सत्ता द्रव्य नहीं है। इसीप्रकार सत्ता गुण भी नहीं है अर्थात् गुणसे भी भिन्न है, क्योंकि गुणोंमें (प्रत्येक गुणमें) रहती है, गुणत्वके समान। भावार्थ—जैसे चौवीसों गुणोंमेंसे प्रत्येकगुणमें रहनेसे गुणत्व गुण नहीं होता है, इसी प्रकार प्रत्येक गुणमें रहनेसे सत्ता भी गुण नहीं है। और यदि सत्ता गुण होवे, तो प्रत्येक गुणमें न रहै, कारण कि, गुण निर्गुण (गुण रहित) हैं। और गुण सत् अर्थात् है, ऐसी प्रतीति होनेसे गुणोंमें सत्ता है, यह सिद्ध होता है। एवमेव सत्ता जो है, वह कर्म भी नहीं है। क्योंकि जैसे कर्मत्व प्रत्येक कर्ममें रहता है, इसीप्रकार यह भी प्रत्येक कर्ममें रहती है। और यदि सत्ता कर्म होवे तो कर्मोंमें न रहे। क्योंकि कर्म जो हैं, वे निष्कर्म (कर्मरहित) हैं। और कर्म सत् है। ऐसी प्रतीतिके होनेसे निश्चय होता है कि, कर्मोंमें सत्ता रहती है। इस कारण सत्ता पदार्थान्तर (द्रव्य गुण और कर्म इन तीनोंसे भिन्न एक चौथा पदार्थ) है। ४।

तथा विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवस्ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात्पदार्थान्तरम्। तथा च प्रशस्तकर—"अन्तेषु भवा अन्त्या। स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषा। विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतव। यथाऽस्मदादीना गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवोपचयावयवविशेषसयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा गौ शुक्ल शीघ्रगति पीन ककुद्मान् महाघण्ट इति। तथास्मद्विशिष्टाना योगिना नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममन सु चान्यनिमित्ताऽसम्भवाद्येभ्यो निमित्तेभ्य प्रत्याधार विलक्षणोऽय विलक्षणोऽयमितिप्रत्ययव्यावृत्तिर्देशकालविप्र-

---

१ अन्तेऽवसाने वर्तन्त इत्यन्त्याः यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। एकमात्रवृत्तय इति भावः।

कृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति तेऽन्त्या विशेषा इति । अमी च विशेषरूपा एव । न तु द्रव्यत्वादिवत्सामान्यविशेषोभयरूपा व्यावृत्तेरेव हेतुत्वात् ।

तथा नित्यद्रव्योंमें रहनेवाले और अत्यन्त व्यावृत्ति (भेद करने) के कारण ऐसे जो है, वे विशेष है । **भावार्थ**—अन्त (आख़िर) में रहनेवाले (जिनकी अपेक्षासे फिर कोई भी भेद न हो) ऐसे अर्थात् केवल नित्यरूप एक द्रव्यमें रहनेवाले जो हैं, वे विशेष कहलाते हैं । और ये विशेष द्रव्य, आदि पदार्थोंसे भिन्न ऐसे लक्षणको धारण करते है, इस कारणसे भिन्न पदार्थ है । सोही वैशेपिक दर्शनपर प्रशस्तभाष्यके कर्त्ता कहते है कि, ये विशेष अंतमें होते है; इस कारण अन्त्य है । और अपने आश्रयके विशेषक (भेदक) होनेसे विशेष है अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशसे रहित ऐसे जो परमाणु, आकाश, काल, दिशा आत्मा और मन नामक द्रव्य है, इनमें द्रव्यके प्रति एक एक विद्यमान रहते हुए सर्वथा व्यावृत्तिरूप बुद्धिके कारण जो है, वे विशेष हैं। **भावार्थ**—जैसे हम तुम वगैरहके वृपभ (बैल) आदिमें अश्व (घोडे) आदिकोंसे तुल्य आकार, तुल्य गुण, तुल्य क्रिया, अवयवोंकी वृद्धि, अवयवविशेप (किसी एक अवयवका अधिक होना) और संयोग, इन सबके निमित्तसे होनेवाली यह वृपभ–शुक्ल है, शीघ्र गमन करनेवाला है, मोटा है, ककुद्मान (थूवेको धारण करनेवाला) है तथा बडे टोकरेका धारक है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी भिन्नता देखी जाती है । उसी प्रकार हमसे अधिक ज्ञान आदिके धारक जो योगी है, उनके–नित्य तथा तुल्य आकार, तुल्य गुण और तुल्य क्रियाको धारणकरनेवाले ऐसे परमाणुओंमें, मुक्त आत्माओंमें और मनोंमें भेद करनेका कोई दूसरा निमित्त न होनेसे जिन निमित्तोंसे आधार आधारके प्रति यह इससे विलक्षण (भिन्न) है, यह इससे विलक्षण है, इस-प्रकार प्रतीतिकी भिन्नता होती है अर्थात् भिन्न २ प्रतीति होती है और देशसे विप्रकृष्ट (दूरदेशमें रहनेवाले) तथा कालसे विप्रकृष्ट (अत्यंत–भूत, भविष्यत् कालमें रहनेवाले) परमाणुमें यह वही परमाणु है, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है, वे अन्त्य अर्थात् विशेप हैं । और ये विशेपरूप ही है । द्रव्यत्व आदिके समान सामान्य तथा विशेप इन दोनों रूप नही है । क्योंकि ये विशेप केवल व्यावृत्तिके ही कारण हैं । **सारांश**—वैशेपिक मतवाले यह कहते है कि, यद्यपि वृपभ और अश्वमें आकृति, गुण तथा क्रिया समान है, तथापि वृपभ अश्वकी अपेक्षा मोटाई, थूवा (खुंध) और घंटाको अधिक धारण करता है, इसकारण हम लोग अश्व और वृपभमें जो भेद है, उसको जान जाते है । और इसी प्रकार अन्य इंद्रियगोचर पदार्थोंमें भी किसी न किसी

कारणसे भेद जान लेते हैं। परतु नित्य तथा समान आकृति, गुण ओर क्रियाके धारक परमाणुओंमें, आकाशमें, कालमें, दिशामें, आत्माओंमें तथा मनोंमें एकके दूसरेसे अथात् एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमें, एक आत्मासे दूसरे आत्मामें इसीप्रकार आकाश आदि अन्य इंद्रिय अगोचर पदार्थोंमें भेद करानेवाला कोई भी बाह्यकारण नहीं है, इसकारण उनमें जो योगियोंके भेदका ज्ञान होता है, उस भेदज्ञानका कारणभूत एक विशेषनामक पदार्थ हमारे मतमें माना गया है। ५।

तथा अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतु सम्बन्ध समवाय इति। अयुतसिद्धयो परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितयोराश्रयाश्रयिभाव ' इह तन्तुषु पट ' इत्यादे प्रत्ययस्यासाधारण कारण समवाय । यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमान पटाद्याधार्य तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते। यथा छिदिक्रिया च्छेद्येनेति। सोऽपि द्रव्यादिलक्षणवैधर्म्यात्पदार्थान्तरमिति षट्पदार्था । ६।

और अयुतसिद्ध आधार्य तथा आधारभूतोंके इहप्रत्ययका कारण जो सबध है, वह समवाय है अर्थात् एक दूसरेको छोड़कर अन्य किसी आधारमें न रहनेवाले ऐसे गुण गुणी आदिक जो एक दूसरेमें रहते है, वे अयुतसिद्ध है, उन अयुतसिद्धोंके जो 'इन ततुओंमें पट है।' इत्यादि प्रत्ययका असाधारण कारण है, वह समवाय है भावार्थ—जेसे छिदिक्रिया (छेदन करने रूप क्रिया) छेद्य (छेदने योग्य) मे सबधित है। उसी प्रकार जिसके वशसे अपने कारणोंकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ पटादि आधेय (रहने योग्य) पदार्थ ततु आदि आधारमें सबधित होता है, वह समवाय है। और यह समवाय द्रव्य आदिके लक्षणोंको नहीं धारण करता है। इसकारण यह समवाय भी, उन पूर्वोक्त पाचों पदार्थोंसे भिन्न एक छट्ठा पदार्थ है।

साम्प्रतमक्षरार्थो व्याक्रियते। सतामपीत्यादि। सतामपि सद्बुद्धिवेद्यतया साधारणानामपि षण्णा पदार्थाना मध्ये क्वचिदेव केषुचिदेव पदार्थेषु सत्ता सामान्ययोग स्याद्भवेत् न सर्वेषु। तेषामेषा वाचोयुक्ति । सदिति। यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता इति वचनाद्यत्रैव सत्प्रत्ययस्तत्रैव सत्ता । सत्प्रत्ययश्च द्रव्यगुणकर्मस्वेवातस्तेष्वेव सत्तायोग । सामान्यादिपदार्थत्रये तु न । तदभावात्। इदमुक्त भवति । यद्यपि वस्तुस्वरूपमस्तित्व सामान्यादित्रयेऽपि विद्यते। तथापि तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुर्न भवति। य एव चानुवृत्तिप्रत्यय स एव सदितिप्रत्यय इति । तदभावान्न

सत्तायोगस्तत्र । द्रव्यादीनां पुनस्त्रयाणां षट्पदार्थसाधारणं वस्तुस्वरूपमस्तित्वमपि विद्यते । अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सत्तासम्बन्धोऽप्यस्ति । निःस्वरूपे शशविषाणादौ सत्तायाः समवायाभावात् ।

इस प्रकार वैशेषिकोंके माने हुए पदार्थोंका निरूपण करके अब अक्षरोंका अर्थ प्रकट करते है । "सतामपि" 'सत्' है इस प्रकारकी बुद्धिसे जानने योग्य होनेके कारण साधारण ऐसे भी छः पदार्थोंमेंसे "क्वचिदेव" कितने ही पदार्थोंमें "सत्ता" सामान्यका योग "स्यात्" है और सब पदार्थोंमे सत्ताका संबंध नहीं है । भावार्थ—वैशेषिक इस युक्तिसे कथन करते है कि, "द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनोंमें वह सत्ता है" इस वचनसे जहां सत्प्रत्यय होता है, वहां ही सत्ता रहती है, और सत्प्रत्यय द्रव्य, गुण, तथा कर्ममें ही है, इस कारण द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनोंमें ही सत्ताका योग है और सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक जो तीन पदार्थ है उनमें सत्ताका योग नहीं है । क्योंकि इन सामान्यादि तीन पदार्थोंमें सत्प्रत्ययका अभाव है । भावार्थ—इस कथनका यह है कि, यद्यपि वस्तुका स्वरूपभूत जो अस्तित्व धर्म है, वह सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें भी रहता है, तथापि वह सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें रहनेवाला अस्तित्व अनुवृत्तिप्रत्ययका कारण नहीं है । और जो अनुवृत्तिप्रत्यय है, उसीको सत्प्रत्यय कहते है, उस सत्प्रत्ययका सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें अभाव है, इस कारण उन सामान्य आदिमें सत्ताका योग भी नहीं है । और द्रव्य, गुण, कर्म; इन तीनों पदार्थोंमें तो छः पदार्थोंमें साधारण (समानरूपसे रहनेवाला) वस्तुका स्वरूपभूत जो अस्तित्व है, वह भी रहता है और अनुवृत्तिप्रत्ययका कारणरूप जो सत्ताका योग (संबंध) है, वह भी है । अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म इनमें सत्ताका योग ही नहीं है, किन्तु अस्तित्व भी है । क्योंकि यदि इनमें अस्तित्व न होवे तो जैसे अस्तित्वरूप स्वरूपसे रहित शशविषाण (सुसेके सींग) आदिमें सत्ताका सबंध नहीं है, इसी प्रकार इनमें भी सत्ताके समवायका अभाव हो जावे इस कारण द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनोंमें अस्तित्व और सत्ताका योग ये दोनों रहते है ।

सामान्यादित्रिके कथं नानुवृत्तिप्रत्यय इति चेद्बाधकसद्भावादिति ब्रूमः । तथाहि—सत्तायामपि सत्तायोगाङ्गीकारेऽनवस्था । विशेषेषु पुनस्तदभ्युपगमे व्यावृत्तिहेतुत्वलक्षणतत्स्वरूपहानिः । समवाये तु तत्कल्पनायां सम्बन्धाऽभावः । केन हि सम्बन्धेन तत्र सत्ता सम्बध्यते । समवायान्तराऽभावात् । तथा च प्रामाणिकप्रकाण्डमुदयनः— "व्य-

केरेभदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थिति । रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रह ॥ १ ॥" इति । तत स्थितमेतत्सत्तामपि स्यात् क्वचिदेव सत्तेति ।

' जैसे द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनोंमें अनुवृत्तिप्रत्यय है, उसी प्रकार सामान्य, विशेष तथा समवाय, इन तीन पदार्थोंमें अनुवृत्तिप्रत्यय क्यों नहीं है । ' ऐसा यदि आप प्रश्न करो तो हम (वैशेषिक) कहते हैं कि, वहा बाधकका सद्भाव है अर्थात् सामान्यादिकमें अनुवृत्तिप्रत्ययके माननेमें अनेक बाधायें है । सो ही दिखलाते हैं—यदि सत्ता (सामान्य) में भी सत्ताका योग मानें तो अनवस्था होती है अर्थात् जब एक सत्तामें दूसरी सत्ताको और दूसरी सत्तामें तीसरी सत्ताको अनुवृत्तिप्रत्ययकी कारणभूता मानेंगे, तब कहीं भी स्थिति न होगी । यदि विशेषोंमें सत्ताके योगको स्वीकार करें तो व्यावृत्तिका हेतुरूप जो विशेषका स्वरूप है, वह नष्ट हो जावेगा भावार्थ—हमारे मतमें विशेषका स्वरूप यह है कि, वह नित्यपदार्थोंको पृथक् (भिन्न) करता है, और स्वय पृथक् बना रहता है अर्थात् विशेष अपना व्यावर्त्तक आप ही है । अत यदि विशेषमें विशेषत्वरूप सामान्य मान लिया जावेगा, तो विशेषके स्वत व्यावर्त्तत्वरूप स्वरूपका नाश हो जावेगा । क्योंकि ' जो सामान्यका आश्रय होता है, उसका सामान्यसे भेद होता है । ' ऐसा नियम है । और यदि समवायमें सत्ताके योगको मानें तो सबधका अभाव है अर्थात् समवायमें सत्ताका योग करनेवाला दूसरा समवाय नहीं है, इसकारण किस सबधसे समवायमें सत्ताका योग किया जावे ? । सो ही प्रामाणिकपुरुषोंमें श्रेष्ठ ऐसे उदयनाचार्य कहते हैं कि,—" व्यक्तिका अभेद १, तुल्यता, २, सकर ३, अनवस्था ४, स्वरूपहानि ५ और सबधका अभाव ६, ये छ जाति (सामान्य) के बाधक है । १ । भावार्थ—आकाशत्वधर्म जातिरूप नहीं है । क्योंकि, वह आकाशरूप एक व्यक्तिमें रहता है । १ । घटत्व और कलशत्व ये दोनों धर्म जातिरूप नहीं है । क्योंकि, दोनोंकी व्यक्ति समान है अर्थात् घटत्व तथा कलशत्व ये दोनों एक ही पदार्थमें रहते है । २ । भूतत्व और मूर्त्तत्व ये दोनों जातिरूप नही है । क्योंकि, यद्यपि आकाशमें केवल भूतत्व और मनमें केवल मूर्त्तत्व रहता है, तथापि पृथ्वी, जल, तेज और वायुमें इन दोनोंका सकर है अर्थात् पृथ्वी आदिमें भूतत्व और मूर्त्तत्व ये दोनों धर्म रहते हैं । ३ । सामान्यमें सामान्यत्व जातिरूप नहीं है । क्योंकि, सामान्यमें

१ अस्य व्याख्या। आकाशत्व न जातिः । व्यक्त्यैक्यात् । १ । घटत्वकलशत्वे न जाती । व्यक्तितुल्यत्वात् । २ । भूतत्वमूर्त्तत्वे न जाती । आकाशे भूतत्वस्यैव मनसिच मूर्त्तत्वस्यैव सद्भावेऽपि पृथिव्यादिचतुष्टय उभयो सद्भावात्सकरप्रसङ्ग । ३ । जातेरपि जात्यन्तराङ्गीकारेऽनवस्थाप्रसङ्ग । ४ । अन्त्यविशेषत्व न जाति । तदङ्गीकारे तत्स्वरूपव्यावृत्तिहानि स्यात् । ५ । समवायत्व न जातिः सम्बन्धाभावात् । ६ । इत्येते जातिबाधका ॥

सामान्यत्वको जातिरूप माननेसे अनवस्था होती है । ४ । विशेषोंमें विशेषत्वधर्म जातिरूप नहीं है । क्योंकिः विशेषोंमें विशेषत्वको जातिरूप माननेसे विशेषके स्वत· व्यावर्त्तकत्वरूप स्वरूपका नाश होता है । ५ । समवायमें समवायत्व जातिरूप नहीं है । क्योंकि, समवाय एक है; अतः समवायमें समवायत्वका संबंध करानेवाला दूसरा समवाय नहीं है । ६ । इस कारण सत् पदार्थोंमें भी किसी किसीमें सत्ता रहती है; न कि सबमें यह जो हमारा मत है; वह निश्चित होचुका ।

तथा चैतन्यमित्यादि । चैतन्यं ज्ञानमात्मनः क्षेत्रज्ञादन्यदत्यन्तव्यतिरिक्तम् । असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः सम्बन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः । इति पराशङ्कापरिहारार्थं औपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम् । समवायसम्बन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतमात्मनः स्वयं जडरूपत्वात्समवायसम्बन्धोपढौकितमिति यावत् । यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद्बुद्ध्यादीनां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसरे आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात् । तदव्यतिरिक्तत्वादतो भिन्नमेवात्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति ।

अब 'चैतन्यं' इत्यादि पादकी व्याख्या करते है। " चैतन्यं " ज्ञान जो है; वह " आत्मनः " आत्मासे " अन्यत " अत्यंत भिन्न है । [यहां आत्माशब्दके साथ अन्यत्शब्दका समास न करनेसे भिन्न ही नहीं किंतु अत्यंत भिन्न है, यह अर्थ प्राप्त होता है ।] " यदि ज्ञान और आत्माके अत्यंत भेद है तो ' ज्ञान आत्माका संबंधी है । ' ऐसा कैसे कहा जाता है । " इस प्रतिवादियोंकी शंकाको दूर करनेके लिये ' औपाधिकम् ' इस विशेषणके द्वारा हेतुका कथन करते हैं । " औपाधिकम् " उपाधिसे आया हुआ है अर्थात् समवायसंबंधरूप जो उपाधि है; उस उपाधिसे ज्ञान आत्मामें मिला हुआ है । भावार्थ—आत्मा स्वयं जडरूप (ज्ञानशून्य) है, इस कारण समवायसंबंधने ज्ञानको आत्मामें मिला दिया है । क्योंकिः यदि आत्माको ज्ञानसे भिन्न (जुदा) न मानें तों दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान; इनमें क्रमशः उत्तरका नाश होनेसे पूर्वका नाश होनेपर बुद्धि आदि जो नौ ९ आत्माके विशेषगुण है, उनका नाश होवेगा और जब बुद्धिआदिका नाश होगा तब उसी समय आत्माका भी नाश हो जावेगा । क्योंकि आत्मा इनसे भिन्न नहीं है । भावार्थ—हमारे मतमें तत्त्वज्ञानके होनेसे मिथ्याज्ञानका

१ तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति । तदपाये प्रवृत्तिरपैति । तदपाये जन्मापैति । तदपाये एकविंशतिभेदं दुःखमपैतीति । २ वाङ्मनःकायव्यापारः शुभाशुभफलः प्रवृत्तिः ३ रागद्वेषमोहाख्यो दोषाः ईर्ष्यादीनामेष्वन्तर्भावः ॥

नाश होता हे, मिथ्याज्ञानको नष्ट होनेपर राग, द्वेष और मोहरूप दोषोंका नाश होता हे। [स्मरण रहे कि, ईर्ष्या आदि दोषोंका राग, द्वेष, मोहमें ही अन्तर्भाव हे।] दोषोंको नष्ट होने पर प्रवृत्तिका अर्थात् मन वचन तथा कायके व्यापारका नाश होता हे। प्रवृत्तिका अभाव होनेसे जन्म (भव) का नाश होता हे। ओर जन्मका नाश होनेपर इकवीस २१ प्रकारका जो दु ख हे, वह नष्ट होता है, ऐसा क्रम हे। ओर बुद्धि १, सुख २, दु ख ३, इच्छा ४, द्वेष ५, प्रयत ६, धर्म ७, अधर्म ८, तथा सस्कार ९ नामक जो आत्माके नो विशेष गुण है, वे, इन मिथ्याज्ञानादिकमें ही अन्तर्गत है, इसकारण मिथ्याज्ञानादिकोंका नाश हुआ तो बुद्धिसुखादिकका भी नाश हो ही गया। ओर बुद्धि मिथ्या ज्ञानरूप हे, अत यदि ज्ञानको आत्मासे अभिन्न मानें तो जिस समय बुद्धिका नाश हो, उसी समय आत्माका भी नाश हो जावे। इस कारण ' ज्ञान आत्मासे भिन्न हे ' यह मानना ही युक्ति सगत हे।

तथा न सविदित्यादि। मुक्तिर्मोक्षो न सविदानन्दमयी न ज्ञानसुखरूपा। सविद्ज्ञान आनन्द सौख्य ततो द्वन्द्व[1] सविदानन्दौ प्रकृतौ यस्या सा सविदानन्दमयी। एतादृशी न भवति। बुद्धिसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसस्काररूपाणा नवानामात्मनो वैशेषिकगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्ष इति वचनात्। चशब्द पूर्वोक्ताभ्युपगमद्वयसमुच्चये। ज्ञान हि क्षणिकत्वादनित्य सुख च सप्रक्षयतया सातिशयतया च न विशिष्यते ससारावस्थात। इति तदुच्छेदे आत्मस्वरूपेणावस्थान मोक्ष इति। प्रयोगश्चात्र। नवानामात्मविशेषगुणाना सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सतानत्वात्। यो य सन्तान स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यते। यथा प्रदीपसन्तान। तथा चाय तस्मादत्यन्तमुच्छिद्यत इति। तदुच्छेद एव महोदयो न कृत्स्नकर्मक्षयलक्षण इति। " न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। " " अशरीर वाव सन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत।" इत्यादयोऽपि वेदान्तास्तादृशीमेवमुक्तिमादिशन्ति। अत्र हि प्रियाप्रिये सुखदु खे ते चाशरीर मुक्त न स्पृशत।

अब ' न सवित् ' इत्यादिरूप काव्यके तृतीयचरणकी व्याख्या करते हे। " मुक्ति " मोक्ष जो है, वह " सविदानन्दमयी " सवित् और आनद ये दोनों जिसमें होवें ऐसी अर्थात् ज्ञान तथा सुखरूप " न " नहीं हे। [यहा पर सवित् और आनद, इन दोनों शब्दोंका द्वन्द्वसमास किया गया है।] क्योंकि आत्माके जो नो ९ वैशेपिक (विशेषमें होनेवाले) गुण है,

---

1 विशेषे भवा वैशेषिका। 2 सत्ताज्ञाने।

उनका जो अत्यंत नाश है, वह मोक्ष है, ऐसा वचन है । [न सविदानन्दमयी च मुक्ति] यहां पर च शब्द पहिले कहे हुए (किसी पदार्थमें सत्ता है १, ज्ञान आत्मासे भिन्न है २, इन) दो मतोंका समुच्चय (सग्रह) करनेके लिये है] भावार्थ— ज्ञान तो क्षणिक होनेसे अनित्य है और सुख हानि और वृद्धिरूप खरूपका धारक है. अर्थात् कभी कम हो जाता है, कभी अधिक हो जाता है; इसकारण संसारकी अवस्थासे भिन्न नहीं है अर्थात् संसारकी जैसी दशा है; वैसा ही है । अतः ज्ञान तथा सुख इन दोनोंका नाश होने पर जो आत्माका आत्मखरूपसे रहना है, वही मोक्ष है । इस विषयमे अनुमानका प्रयोग भी है । सो ही दिखलाते हैं ।—आत्माके नवों विशेपगुणोंका संतान अत्यन्त नष्ट होता है । क्योंकि सतान है । जो जो सतान होता है; वह वह अत्यंत नष्ट होता है । जैसे कि, प्रदीपका संतान अत्यंत नष्ट होता है । वैसा ही यह आत्मविशेषगुणोंका संतान है, इसकारण अत्यन्त नाशको प्राप्त होता है । अतः सिद्ध हुआ कि नौ ९ जो आत्मविशेपगुण है, उनके अत्यंतनाशरूप ही मोक्ष है और आप (जैनियों) का माना हुआ जो संपूर्णकर्मोंके नाशरूप लक्षणका धारक मोक्ष है; वह मोक्ष नही है । और " शरीरके धारक जीवके निश्चयसे प्रिय (सुख) तथा अप्रिय (दुःख) इन दोनोंका नाश नही है १, अथवा अशरीर (शरीरसे रहित) हुएको ही प्रिय—अप्रिय नहीं स्पर्शते (छूते) हैं २, [यहां पर प्रियसे सुखका और अप्रियसे दुःखका ग्रहण है, और वे प्रिय अप्रिय अशरीर अर्थात् मुक्त आत्माको नहीं स्पर्शते है, ऐसा अर्थ समझना चाहिये] इत्यादि वेदान्तके सूत्र भी ज्ञान और सुखसे रहित ऐसे मोक्षका ही कथन करते हैं ।

अपि च यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः। तावदात्यन्तिकी दुःख—व्यावृत्तिर्न विकल्प्यते । १ । धर्माधर्मनिमित्तो हि सम्भवः सुखदुःखयोः । मूलभूतौ च तावेव स्तम्भौ संसारसद्मनः । २ । तदुच्छेदे च तत्कार्य—शरीराद्यनुपप्लवात् । नात्मनः सुखदुःखे स्त—इत्यसौ मुक्त उच्यते । ३ । इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनबन्धनम् । उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तैरपि युज्यते । ४ । तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः । गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः । ५ । ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्माऽवशिष्यते । स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः । ६ । ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः । संसारबन्धनाधीन—दुःखक्लेशाद्यदूषितम् । ७ । (कामक्रोधलोभगर्वदम्भहर्षाः ऊर्मिषट्कमिति । "

इस विषयमें हम और भी विशेष कहते हैं कि,—"जब तक वासनाको आदिलेकर समस्त आत्माके गुण अत्यत नष्ट नहीं होवें, तब तक आत्माके दुखोंसे अत्यत रहितता नहीं मानी जाती है। १। धर्म और अधर्मके निमित्तसे ही सुख तथा दु खकी उत्पत्ति होती है अर्थात् धर्मसे सुख और अधर्मसे दु ख होता है, इसकारण ससाररूपी गृहके ये दोनों धर्म–अधर्म ही मूलभूत (आधार रूप) स्तभ (थभे) हैं। २। धर्म तथा अधर्म, इन दोनोंका नाश होनेपर इन धर्म–अधर्मके कार्यरूप जो शरीर आदि उपद्रव हैं वे नहीं रहते हैं, इसकारण आत्माके सुख और दु ख नहीं रहता है, अत एव वह आत्मा मुक्त कहा जाता है। ३। इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदिरूप जो विशेष गुण हैं, इनका भोगायतन (शरीर) ही कारण रूप है, इस कारण नष्ट हो गया है भोगायतन जिसके ऐसा अर्थात् शरीररहित ऐसा आत्मा, उन इच्छा, द्वेष आदिसे भी सबधित नहीं होता है। भावार्थ—शरीरसे इच्छा, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं, और आत्मा शरीर रहित हो चुका, अत आत्मा इच्छा आदिसे भी रहित रहता है। ४। सो इस पूर्वोक्त कथनके अनुसार बुद्धि आदि आत्माके नौ ९ विशेषगुणोंका जो मूलसे नाश है, वह मोक्ष है, यह स्थित (सिद्ध) हो चुका। ५। यदि प्रश्न करो कि, उस अवस्थामें अर्थात् मुक्तदशामें कैसा आत्मा रह जाता है, तो उत्तर यह है कि,—अपने एक स्वरूपमें ही स्थित तथा समस्त गुणोंसे रहित ऐसा आत्मा मुक्त अवस्थामें रहता है। ६। इसी कारण बुद्धिमान मनुष्य ससारबधनके आधीन अर्थात् ससारी अवस्थामें नियमसे होनेवाले जो दु ख तथा क्लेश आदि है, उनसे अदूषित (रहित) तथा ऊर्मिषट्क (काम १, क्रोध २, लोभ ३, गर्व ४, दम्भ ५, और हर्ष ६, इन छ ऊर्मियों) को उल्घ गया ऐसा अर्थात् ऊर्मिषट्कसे रहित ऐसा इस मुक्त आत्माका स्वरूप कहते हैं। ७।"

तदेतदभ्युपगमत्रयमित्थ समर्थयद्भिरत्वदीयैस्त्वदाज्ञाबहिर्भूतै कणादमतानुगामिभि सुसूत्रमासूत्रित सम्यगागम प्रपञ्चित । अथवा सुसूत्रमिति क्रियाविशेषणम् । शोभन सूत्र वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञान यत्रैवमासूत्रित तच्छास्त्रार्थापनिबन्ध कृत । इति हृदयम् । "सूत्र तु सूचनाकारि ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयो ।" इत्यनेकार्थवचनात् ।

सो इसप्रकार इन पूर्वोक्त तीन मतोंको समर्थित (पुष्ट) करते हुए " अत्वदीयै " आपकी आज्ञासे बहिर्भूत अर्थात् आपकी आज्ञाको न माननेवाले ऐसे कणादऋषीके मतानुसारियोंने अर्थात् वैशेषिकोंने " सुसूत्र " अच्छा शास्त्र " आसूत्रित " गूथ

(रच) डाला है । अथवा ' सुसूत्रं ' यह क्रियाका विशेषण है, इस कारण भाव यह है कि,—' सु ' उत्तम है ' सूत्र ' पदार्थोंकी व्यवस्थाके रचनेका विज्ञान जिसमें ऐसा आसूत्रण किया है अर्थात् उन उन शास्त्रार्थोंकी रचना की है । क्योंकि " सूचना करनेवाला जो सूत्र शब्द है, वह ग्रन्थके अर्थमें, तंतुके अर्थमें और व्यवस्थाके अर्थमें व्यवहृत किया जाता है । " ऐसा अनेकार्थकोशका वचन है ।

अत्र सुसूत्रमिति विपरीतलक्षणयोपहासगर्भं प्रशंसावचनम् । यथा—"उपकृतं वहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरं ।" इत्यादि । उपहसनीयता च युक्तिरिक्तत्वात्तदङ्गीकाराणाम् । तथा हि—अविशेषेण सद्बुद्धिवेद्येष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते न सामान्यादित्रये । इति महतीयं पश्यतोहरता । यतः परिभाव्यतां सत्ताशब्दस्य शब्दार्थः । अस्तीति सन् सतो भावः सत्ता अस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं निर्विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाप्युक्तम् । तत्किमिदमर्द्धजरतीयं यद्द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो नेतरत्र त्रय इति ।

यहा पर ' सुसूत्र ' यह विपरीतलक्षणासे उपहास है अन्तर्गत जिसके ऐसा प्रशसाका वचन है अर्थात् ग्रथकारने 'सुसूत्रं ' इस वचनसे वैशेषिकोकी प्रशंसा न करके प्रत्युत उनकी हांसी की है । जैसे कि—" हे मित्र ! तुमने वहुत उपकार किया है; इस विषयमें कहना ही क्या है² आपने वहुत सज्जनता प्रकट की है । इसी प्रकार करते हुए तुम सौ १०० वर्षतक सुखी रहो ।१।" इत्यादि । भावार्थ—जैसे इस श्लोकमें विपरीतलक्षणासे उपकार आदि शब्दोंसे अपकार आदिरूप अर्थको ग्रहण किया गया है; उसी प्रकार ' सुसूत्रं ' इस शब्दसे उपहासरूप अर्थको लिया गया है । और वैशेषिकोंके मत युक्ति रहित है; इसकारण वे उपहासके योग्य है । अव आचार्य निम्नलिखित प्रकारसे वैशेषिकोंके मतका खंडन करके उसको युक्ति रहित ही दिखलाते है ।—समानतासे सभी पदार्थ सत् (है) इस प्रकारकी बुद्धिसे वेद्य (जानने योग्य) है; ऐसा मान करके भी जो तुम (वैशेषिक) द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीनोंमें ही सत्ताका योग मानते हो सो यह तुम्हारा वडा देखते २ हरण करना है अर्थात् प्रत्यक्षमें ठगना है । क्योंकि तुम ' सत्ता ' इस शब्दके शब्दार्थका विचार करो । जो है, वह सत् कहलाता है, सत्का जो भाव है, वह सत्ता अर्थात् अस्तित्व है, और यह अस्तित्व वस्तुका स्वरूप है; इसकारण तुमने भी सभी पदार्थोंमें इसको समानरूपसे कहा है । तव फिर

---

१. विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् । १ । इत्युत्तरार्द्धः । २. स्त्री जरातुरा तारुण्यरमणीया च यथा मतेन प्रोच्यते तत्तुल्यं भवद्वाक्यम् ॥

द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनमें ही सत्ताका योग है और सामान्य आदि तीन पदार्थोंमें नहीं। यह अर्द्धजरतीय न्यायके समान कैसे कहते हो भावार्थ—जैसे मदोन्मत्त पुरुष उसी एक स्त्रीको वृद्धावस्थासे पीडित तथा युवावस्थासे मनोहर कह देता है, उसीके समान यह तुम्हारा कहना है कि, द्रव्यादि तीनमें सत्ताका योग है और सामान्य आदिमें सत्ताका योग नहीं है।

अनुवृत्तिप्रत्ययाऽभावान्न सामान्यादित्रये सत्तायोग इतिचेत् । न । तत्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात् । पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्य सामान्यमिति । विशेषेष्वपि बहुत्वादयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति । समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तदवच्छेदकभेदादेकाकारप्रतीतेरनुभवात् ।

शंका—सामान्य आदि तीन पदार्थमें अनुवृत्तिप्रत्यय नहीं है, इसकारण उनमें सत्ताका संबंध नहीं है। समाधान—सो नहीं। क्योंकि सामान्यआदि तीन पदार्थोंमें भी अनुवृत्तिप्रत्यय बे रुकावट होता है। भावार्थ—पृथिवीत्व, गोत्व तथा घटत्व आदि रूप जो सामान्य हैं, उनमें यह सामान्य है, यह सामान्य है, इसप्रकारसे अनुवृत्ति प्रत्यय है। विशेष बहुत (अनंत) हैं, अतः उनमें यह भी विशेष है, यह भी विशेष है, इसप्रकारसे अनुवृत्तिप्रत्यय है। और समवायमें पूर्वोक्तप्रकारसे उस उस अवच्छेदकके भेदसे एक आकाररूप प्रतीतिका अनुभव होता है, इसकारण समवायमें भी अनुवृत्तिप्रत्यय है।

स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताध्यारोपात्सामान्यादिष्वपि सत्सदित्यनुगम इति चेत्तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते । अथ भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैवेतिचेद्द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगम । असति मुख्येऽध्यारोपस्यासम्भवाद्द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगत प्रत्यय सामान्यादिषु तु गौण इतिचेत् । न । विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात् ।

यदि कहो कि,—स्वरूपसत्त्वसाधर्म्यसे अर्थात् जैसे द्रव्य आदिमें अस्तित्वरूप वस्तुस्वरूपकी सत्ता है, उसी प्रकार सामान्य आदिमें भी अस्तित्वरूप वस्तुस्वरूपकी सत्ता रहनेसे सामान्य आदिमें सत्ताका अध्यारोप (उपचार) कर लेवेंगे, इस कारण सामान्य आदिमें भी यह सत् है, यह सत् है, ऐसी प्रतीति हो जावे गी, तो यह अनुगतप्रत्यय उपचार जनित है, अतः मिथ्याप्रत्यय हो जावेगा। यदि कहो कि,—भिन्न स्वभावके धारकोंमें एकताका अनुगम करना मिथ्या ही है अर्थात् सामान्य आदि भिन्न स्वभाववाले पदार्थमें एकरूपताकी प्रतीतिका करना असत्य ही है, तो द्रव्य आदिमें भी सत्ताके अध्यारोपसे ही किया हुआ अनुगत प्रत्यय

हो जाओ अर्थात् जैसे तुम सामान्य आदिमें सत्ताका आरोप करके अनुगतप्रत्यय सिद्ध करते हो, उसीप्रकार द्रव्य आदिमें भी सत्ताके आरोपसे ही अनुगतप्रत्ययको स्वीकार करो । यदि कहो कि; मुख्य अर्थके विद्यमान न होनेपर अध्यारोप नही हो सकता है अर्थात् जब एक स्थानमें मुख्य अर्थ विद्यमान रहता है, तभी दूसरे स्थानमें उसका आरोप होता है, इस कारण द्रव्य आदिमें तो यह अनुगतप्रत्यय मुख्य है और सामान्य आदिमें गौण है । सो भी नहीं । क्योंकि विपर्ययकी भी कल्पना हो सकती है. अर्थात् द्रव्यादिमें अनुगतप्रत्ययको मुख्य और सामान्य आदिमें अनुगत प्रत्ययको गौण माननेमें कोई नियामक नही है; अत. द्रव्य आदिमें अनुगतप्रत्ययको गौण तथा सामान्य आदिमें अनुगतप्रत्ययको मुख्य भी मान सकते है ।

सामान्यादिषु वाधकसम्भवान्न मुख्योऽनुगतः प्रत्ययो द्रव्यादिषु तु तदभावान्मुख्यः इतिचेन्ननु किमिदं वाधकम् । अथ सामान्येऽपि सत्ताभ्युपगमेऽनवस्था । विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे स्वरूपहानिः । समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराऽभाव इति वाधकानीतिचेत् । न । सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु । तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुनः सत्ताभ्युपगमेऽपि न स्वरूपहानिः । स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात् । निः[1]सामान्यस्य विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवाविष्वग्भावात्मकः सम्बन्धोऽन्यथा तस्य स्वरूपाऽभावप्रसङ्गः । इति वाधकाऽभावात्तेष्वपि द्रव्यादिवन्मुख्य एव सत्तासम्बन्धः । इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम् ।

यदि कहो कि,—सामान्य आदिकमें वाधकका सद्भाव है, अतः सामान्य आदिमें अनुगतप्रत्यय मुख्य नहीं है और द्रव्यादिमें कोई वाधक नहीं है, अतः द्रव्यादिमें अनुगतप्रत्यय मुख्य है, तो हम प्रश्न करते है कि, वह वाधक क्या है ? । यदि उत्तरमें कहो कि,—सामान्यमें सत्ता (सामान्यत्व) का स्वीकार करनेमें अनवस्थादोष होता है, विशेषोंमें विशेषत्वरूप सत्ताके माननेपर विशेषोंका स्वतः व्यावृत्तत्वरूप स्वरूप नष्ट होता है, तथा समवायमे समवायत्वरूप सत्ताका अगीकार करनेपर समवायमें सत्ताके रहनेके अर्थ कोई दूसरा संबंध नही है । इस प्रकार ये वाधक विद्यमान है । सो ठीक नहीं है । क्योंकि; यदि सामान्यमें भी सत्ताको माननेसे अनवस्था होती है; तो वह अनवस्था द्रव्य आदिमें भी क्यों नही होती है । कारण कि, उन द्रव्यादिकमें भी

१ निर्विशेष हि सामान्य भवेत्खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वे तु विशेषास्तद्वदेव हि । १ । इति नियमात् ।

स्वरूपसत्ता पहले ही विद्यमान है। भावार्थ—जब सत्तामें सत्ताके रहनेसे अनवस्था होती है, तब द्रव्यादिकमें स्वरूपसत्ता रहती है। और वहा पर ही तुम अनुवृत्तिप्रत्ययकी कारणभूत दूसरी सत्ता मानते हो, अत द्रव्यादिकमें भी सत्ताका योग माननेसे अनवस्था क्यों नहीं होती है? और विशेषोंमें सत्ताका स्वीकार करनेपर भी विशेषोंके स्वरूपकी हानि नहीं होती है। क्योंकि, सामान्यरहित विशेष कहीं भी प्राप्त नहीं होता है, इसकारण विशेषमें विशेषत्वरूप सत्ताको स्वीकृत करनेपर उलटा विशेषोंके स्वरूपको उत्तेजन मिलता है। और समवायमें भी समवायत्वरूप स्वरूपसत्ताका अङ्गीकार करनेपर अविष्वग्भावरूप संबंध (तादात्म्य संबंध) सिद्ध होता ही है। क्योंकि यदि समवायमें अविष्वग्भावरूप संबंध न मानो तो उस समवायके स्वरूपका अभावरूप प्रसंग होगा। अर्थात् समवाय स्वरूपरहित हो जावेगा, और वह तुमको इष्ट नहीं है। ऐसे पूर्वोक्तप्रकारसे सामान्य आदिमें बाधकका अभाव हो जानेसे जसे–द्रव्य आदिमें सत्ताका संबंध मुख्य है, उसी प्रकार, उन सामान्य आदिमें भी सत्ताका संबंध मुख्य ही है, यह सिद्ध हो चुका। इसकारण द्रव्य-गुण तथा कर्ममें ही जो तुम सत्ताकी कल्पना करते हो, वह व्यर्थ (निष्प्रयोजन) है।

किञ्च तैर्वादिभिर्या द्रव्यादित्रये मुख्य सत्तासम्बन्ध कक्षीकृत । सोऽपि विचार्यमाणो विशीर्यते। तथा हि-यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणा सत्ता तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाण्येव स्यु । सत्तायोगात्सत्त्वमस्त्येवेतिचेत्–असता सत्तायोगेऽपि कुत सत्त्व, सता तु निष्फल सत्तायोग । स्वरूपसत्त्व भावानामस्त्येवेतिचेत्तर्हि कि शिखण्डिना सत्तायोगेन । सत्तायोगात्प्रागभावो न सन्, नाप्यसन्, सत्तायोगात्तु सन्नितिचेद्वाङ्मात्रमेतत्। सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात्। तस्मात्सतामपि स्यात्क्वचिदेव सत्तेति तेषा वचन विदुषा परिषदि कथमिव नोपहासाय जायते।

और भी विशेष यह है कि, उन वैशेषिकोंने जो द्रव्य गुण तथा कर्म इन तीनमें सत्ताके संबंधको मुख्यरूपसे स्वीकृत किया है, वह मुख्य सत्ताका संबंध भी जब हम उसका विचार करते है, तो जर्जरा हो जाता है। सो ही दिखलाते है।—यदि तुम सत्ताको द्रव्य आदिसे अत्यन्त विलक्षण (भिन्न स्वरूपवाली) मानते हो, तो द्रव्य आदिक असद्रूपके धारक हो जावेंगे। यदि कहो कि, सत्ताके योगसे उन द्रव्य आदिमें सत्त्व (सत्‌रूप पना) है ही तो जो असत्‌रूप द्रव्य आदि हैं, उनमें सत्ताका योग करने पर भी सत्त्व कैसे होगा अर्थात् असत्‌रूप द्रव्य आदिकमें सत्ताका योग होने पर भी द्रव्य आदि सत्‌रूप नहीं हो सकते है।

और जो सत्‌रूप पदार्थ है, उनके तो सत्ताका योग निष्फल (व्यर्थ) है । यदि कहो कि; पदार्थोंके स्वरूपसत्त्व है ही; तो फिर नपुंसक (अकार्यकारी) सत्ताके योगको माननेसे क्या प्रयोजन है ? । यदि कहो कि, सत्ताके योगके पहिले न तो पदार्थ सत् था और न असत् था; परन्तु सत्ताका योग होनेसे पदार्थ सत् हो गया सो यह भी कहनेमात्र है अर्थात् व्यर्थ है । क्योंकि (पदार्थोंमें) सत् तथा असत्‌से भिन्नरूप कोई तीसरा प्रकार ही नहीं हो सकता है । इस कारण 'सत् पदार्थोंमें भी किसी किसीमें सत्ता है' ऐसा वैशेषिकोंका वचन विद्वानोंकी सभामे उपहासके अर्थ कैसे न हो अर्थात् हो ही हो ।

ज्ञानमपि यद्येकान्तेनात्मनः सकाशाद्भिन्नमिष्यते तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः । अथ यत्रैवात्मनि समवायसम्बन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करोतीति चेत् । न, समवायस्यैकत्वान्नित्यत्वाद्व्यापकत्वाच्च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात्समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयाववोधप्रसङ्गः । यथा च घटे रूपादयः समवायसम्बन्धेन समवेतास्तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्यापि विनाशः । एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं तच्च क्षणिकं ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशापत्तेरनित्यत्वापत्तिः ।

यदि तुम ज्ञानको भी आत्मासे सर्वथा भिन्न मानोगे तो जैसे मैत्रके ज्ञानसे आत्माके विषयका ज्ञान नहीं होता है; उसी प्रकार उस चैत्रके ज्ञानसे भी आत्माके विषयका ज्ञान न होगा । भावार्थ—जैसे चैत्रनामक एक पुरुषसे मैत्रनामक दूसरे पुरुषका ज्ञान भिन्न है, अतः मैत्रके ज्ञानसे चैत्रके आत्माको पदार्थका ज्ञान नहीं होता है, उसी प्रकार चैत्रका ज्ञान भी चैत्रकी आत्मासे भिन्न है, इस कारण चैत्रके ज्ञानसे चैत्रकी आत्माको भी पदार्थका ज्ञान न होगा । और ऐसा होगा तो आत्मा पदार्थके ज्ञानसे रहित अर्थात् जडरूप ही हो जावेगा । यदि कहो कि;—जिस आत्मामें ज्ञान समवायसंबधसे समवेत (मिला हुआ) है; उसीमें ज्ञान पदार्थोंका अवभास (ज्ञान) कराता है अर्थात् यद्यपि चैत्रका ज्ञान चैत्रकी आत्मासे भिन्न है, तथापि चैत्रकी आत्मामें समवायसे संवधित है, अत· चैत्रकी आत्माको पदार्थका ज्ञान हो जाता है । सो नहीं । क्योंकि, तुम्हारे मतमें समवाय एक, नित्य और व्यापक होनेसे सब पदार्थोंमें समानरूपसे रहता है; और जैसे समवाय व्यापक है, उसी प्रकार आत्मा भी सबमें व्यापक है; इस कारण एक आत्माके ज्ञानसे सब आत्माओंको पदार्थका ज्ञान हो जानेसे तुम्हारे अनिष्टकी प्राप्ति होगी । तथा जैसे घटमें रूप आदिक समवायसंवधसे समवेत हैं और उन रूपआदिका नाश होनेपर उन रूपआदिके आधारभूत घटका भी नाश होता है; इसीप्रकार

ज्ञान भी आत्मामें समवेत है और वह ज्ञान क्षणिक है, अत ज्ञानका नाश होनेपर उस ज्ञानके आधारभूत आत्माका भी नाश हो जानेसे आत्माके अनित्यताकी प्राप्ति होगी अर्थात् तुम्हारा नित्य आत्मा अनित्य हो जावेगा ।

अथास्तु समवायेन ज्ञानात्मनो सम्बन्ध किन्तु स एव समवाय केन तयो सबध्यते । समवायान्तरेण चेदनवस्था । स्वेनैव चेत्कि न ज्ञानात्मनोरपि तथा । अथ यथा प्रदीपस्तत्स्वाभाव्यादात्मान पर च प्रकाशयति तथा समवायस्येदृगेव स्वभावो यदात्मान ज्ञानात्मानौ च सम्बन्धयतीति चेत्–ज्ञानात्मनोरपि कि न तथास्वभावता येन स्वयमेतौ सबध्येते । किञ्च प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न जाघटीति । यत प्रदीपस्तावद्रव्य, प्रकाशश्च तस्य धर्म , धर्मधर्मिणोश्च त्वयात्यन्त भेदोऽभ्युपगम्यते । तत्कथ प्रदीपस्य प्रकाशात्मकता । तदभावे च स्वपरप्रकाशकस्वभावताभणितिनिर्मूलैव ।

अथवा कदाचित् ज्ञान और आत्मा, इन दोनोंके समवायसे सबध रहे, तो भी हम प्रश्न करते है कि,—वही समवाय ज्ञान तथा आत्मा इन दोनोंमें किससे सबधित किया जाता है अर्थात् जैसे आत्मामें ज्ञान समवायसबधसे समवेत है, उसी प्रकार, उन दोनोंमें समवाय किससे सबधित है ? । यदि कहो कि,—ज्ञान और आत्माको सबधित करनेवाला समवाय उन दोनोंमें दूसरे समवायसे सबधको प्राप्त होता है, तब तो अनवस्था दोष आता है । और यदि कहो कि,–समवाय स्वय (अपने आप) ही ज्ञान और आत्मामें सबधित होता है, तो ज्ञान और आत्मा इन दोनोंके भी स्वय सबधित होना क्यों नहीं है अथात् जैसे समवाय ज्ञान और आत्मामें स्वय सबधको प्राप्त होता है, उसी प्रकार ज्ञान तथा आत्मा ये दोनो भी स्वय ही परस्पर सबधित क्यो नहीं होते हैं ? । भावार्थ—ज्ञान और आत्मा समवायसे सबधित होते है ऐसा माननेमें कोई नियामक नहीं है, अत जैसे तुम समवायका ज्ञान तथा आत्मामें स्वत सबध मानते हो, उसी प्रकार ज्ञान और आत्माकेभी स्वत सबध ही मान लो समवायसे सबध मानना व्यर्थ है । अब कदाचित् ऐसा कहो कि,–जैसे दीपक उसके स्वभावसे आत्माको और परको प्रकाशित करता है, अर्थात् दीपक अपने स्वभावसे आपको भी प्रकाशित करता है और घट पट आदि पर पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है, इसीप्रकार समवायका भी ऐसा ही स्वभाव है कि,–वह आपको और ज्ञान तथा आत्मा, इन दोनोंको सबधित करता है अर्थात् समवाय अपने स्वभावसे ज्ञान और आत्माको भी परस्पर सबधित करता है और आप स्वय भी उनमें सबधित हो जाता है, तो ज्ञान और आत्मा, इन दोनोंके

भी ऐसा स्वभाव क्यों नही है, जिससे कि;–वे दोनो ज्ञान और आत्मा स्वयं ही संबंधको प्राप्त हो जावें अर्थात् जैसे समवायका स्वयं संबंधित होजानेरूप स्वभाव है, वेसे ही ज्ञान और आत्माका भी स्वयं परस्पर संबंधको प्राप्त होजानेरूप स्वभाव मानलेना चाहिये। और जो तुमने प्रदीपका दृष्टान्त दिया है, वह भी तुह्मारे पक्ष (मत) में घटित नही होता है। क्योंकि;—प्रदीप तो द्रव्य (धर्मी) है और प्रकाश, उस प्रदीपका धर्म है; तथा धर्म और धर्मी इन दोनोंके तुमने अत्यंत भेद माना है; अत. प्रदीप प्रकाशरूप कैसे हो सकता है? अर्थात् जो जिसका स्वभाव होता है; वह उससे भिन्न नही रहता है और तुम प्रदीप तथा प्रकाशके सर्वथा भेद मानते हो, अतः प्रदीपका प्रकाशरूप स्वभाव नहीं हो सकता है। और जब प्रदीपका प्रकाशरूप स्वभाव ही न रहा तव 'प्रदीप स्वपरप्रकाशक है ' यह तुम्हारा कहना निर्मूल (निराधार) अर्थात् असत्य ही है।

यदि च प्रदीपात्प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते तदा घटादीनामपि तदनुषज्यते। भेदाविशेषात्। अपि च तौ स्वपरसम्बन्धनस्वभावौ समवायाद्भिन्नौ स्यातामभिन्नौ वा। यदि भिन्नौ ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं सम्बन्धः। सम्बन्धनिबन्धनस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात्। अथाऽभिन्नौ ततः समवायमात्रमेव। न तौ। तदव्यतिरिक्तत्वात्तत्स्वरूपवदिति। किञ्च यथा इह समवायिषु समवाय इति मतिः समवायं विनाप्युपपन्ना तथा इहात्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्तं विनैव चेदुच्यते तदा को दोषः।

और यदि तुम प्रदीपसे प्रकाशके अत्यत भेद होनेपर भी प्रदीपके निज तथा परका प्रकाशकपना मानोगे, तो घट आदिके भी स्वपरप्रकाशकताका प्रसंग होगा। क्योंकि, भेदका अविशेष है अर्थात् जैसे प्रदीपसे प्रकाश भिन्न है, उसी प्रकार घट पट आदिसे भी प्रकाश भिन्न है। तथा यह भी विशेप प्रष्टव्य है कि,–समवायके जो स्व तथा परका संबंध करनेरूप स्वभाव है; वे समवायसे भिन्न है ? अथवा अभिन्न है ?। यदि कहो कि, समवायसे भिन्न है; तब तो ये दोनों स्वपरसे सबंधकरनेरूप स्वभाव समवायके है; इस प्रकारका संबंध कैसे हुआ। क्योंकि,—इन स्वभावोंको समवायमें संबधित करनेवाला जो दूसरा समवाय है; उसको तुमने अनवस्थाके भयसे स्वीकार नही किया है। यदि कहो कि,—वे निज तथा परका प्रकाश करनेवाले स्वभाव समवायसे अभिन्न है, तो वे दोनों स्वभाव समवायरूप ही है; समवायसे भिन्न वे दोनों स्वभाव नही है। क्योंकि; वे दोनों समवायके स्वरूपके समान समवायसे अभिन्न है **भावार्थ**—जैसे अभिन्न होनेसे समवायका स्वरूप समवायरूप ही है, इसी प्रकार ये स्वप्रकाशक और परप्र-

काशकरूप स्वभाव भी समवायरूप ही है। ओर भी विशेष वक्तव्य यह हे कि,–जैसे इन समवायियों (समवायके धारकों) में समवाय हे, ऐसी बुद्धि समवायके विना भी उत्पन्न हुई हे, उसी प्रकार यदि तुम 'इस आत्मामें ज्ञान हे' इस इहप्रत्ययरूप प्रतीतिको भी समवायके विना ही उत्पन्न हुई कह दो तो क्या दोप है? अर्थात् समवायके विना ही 'इस आत्मामें ज्ञान हे' ऐसे प्रत्ययका होना मान लेनेमें कोई भी दोप नहीं हे।

अथात्मा कर्त्ता, ज्ञान च करण, कर्तृकरणयोश्च वर्द्धकिवासीवद्भेद एव प्रतीतस्तत्कथ ज्ञानात्मनोरभेद इति-चेत्। न। दृष्टान्तस्य[1] वैपम्यात्। वासी हि वाह्य करण, ज्ञान चाभ्यन्तर तत्कथमनयो साधर्म्यम्। न [2]चैव करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम्। यदाहुर्लाक्षणिका —"करण द्विविध ज्ञेय वाह्यमाभ्यन्तर वुधै। यथा लुनाति दात्रेण मेरु गच्छति चेतसा ।१।" यदि हि किञ्चित्करणमान्तरमेकान्तेन भिन्नमुपदर्श्यते तत स्याद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो साधर्म्यम्। न च तथाविधमस्ति। न च वाह्यकरणगतो धर्म सर्वाऽप्यान्तरे योजयितु शक्यते। अन्यथा दीपेन चक्षुपा देवदत्त पश्यतीत्यत्रापि दीपादिवच्चक्षुपोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेद स्यात्। तथा च सति लोकप्रतीतिविरोध इति।

शका—आत्मा तो कर्त्ता है, ज्ञान करण हे,–कर्त्ता और करणके वढ़ई (खाती) ओर कुठारके समान भेद ही प्रतीत हे, अर्थात् जैसे वढ़ईरूप कर्त्ता अपनेसे भिन्न कुठाररूप करणसे काष्टको छेदता हे, उसी प्रकार आत्मारूप कर्त्ता ज्ञानस्वरूप करणके द्वारा पदार्थको जानता हे, अत आत्मा ओर ज्ञान ये दोनों भिन्न ही प्रतीतिके गोचर होते है। इस कारण ज्ञान तथा आत्मा, इन दोनोंके अभेद कैसे हो सकता है? **समाधान**—यह कहना उचित नही हे। क्योकि दृष्टान्त विपम हे। **भावार्थ**—कुठार तो वाह्यकरण है ओर ज्ञान अतरग करण हे, इस कारण इन दोनोंके समानता कैसे हो सकती हे अर्थात् कुठाररूप वाह्यकरणके दृष्टान्तसे ज्ञानरूप अतरगकरणको भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते हो। और हमने जो दो प्रकारके करण कहे है, वे अप्रसिद्ध नही है। क्योंकि व्याकरणके ज्ञाता जन कहते हे कि,—"नानवानाको वाह्य और आभ्यन्तर (अतरग) रूपसे दो करण जानने चाहियें। जैसे देवदत्त दात्र (दराती) से छेदता हे ओर मनसे मेरुपर्वतको जाता है, यहा पर दात्र वाह्यकरण हे और मन अतरग करण है। हा यदि तुमने

1 ख पुस्तके 'दृष्टा तस्यैव' इति पाठ। 2 ख-पुस्तके न चेदमिति पाठ।

जैसे वढईरूप कर्त्तासे कुठाररूप वाह्यकरणको भिन्न वताया है; उसीप्रकार किसी कर्त्ताको किसी अंतरंग करणसे सर्वथा भिन्न दिखलाओ तो दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक (ज्ञान) के समानता हो सकती है; परतु इस प्रकारका कोई दृष्टान्त ही नहीं है । और वाह्यकरणमें प्राप्त जो धर्म है, उस सबको ही तुम अंतरंगकरणमे नहीं लगा सकते हो । क्योंकि, यदि वाह्यकरणके सब धर्मको अंतरगमें लगाओगे तो देवदत्त दीपक और नेत्रसे देखता है, यहां जैसे देवदत्तसे दीप आदि भिन्न है, उसीप्रकार नेत्र भी देवदत्तसे सर्वथा भिन्न हो जावे और ऐसा होने पर लोककी प्रतीतिसे विरोध उत्पन्न होवे ।

अपि च साध्यविकलोऽपि वासिवर्द्धकिदृष्टान्तः । तथाहि—नायं वर्द्धकिः काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्य
इत्येवं वासिग्रहणपरिणामेनाऽपरिणतः सन् तामगृहीत्वा घटयति । किन्तु तथा परिणतस्तां गृहीत्वा । तथा परिणा-
मे च वासिरपि तस्य काष्ठस्य घटने व्याप्रियते पुरुषोऽपि । इत्येवं लक्षणैकार्थसाधकत्वाद्वासिवर्द्धक्योरभेदोऽप्युप
पद्यते । तत्कथमनयोर्भेद एवेत्युच्यते । एवमात्मापि विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामीति ज्ञानग्रहणपरिणामवान्
ज्ञानं गृहीत्वार्थं व्यवस्यति । ततश्च ज्ञानात्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव । एवं कर्तृकर-
णयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षणं कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितं आहोस्विद्विषय इति वाच्यम् । आत्मनि चेत्—सिद्धं
नः समीहितम् । विषये चेत्कथमात्मनोऽनुभवः प्रतीयते । अथ विषयस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवस्तर्हि किं
न पुरुषान्तरस्यापि । तद्भेदाविशेषात् ।

और भी यह दोष है कि; तुमने जो वढई और कुठारका दृष्टान्त दिया है; वह साध्यसे विकल (रहित) है अर्थात् आत्मा और ज्ञान इन दोनोंके भेदको नही साध सकता है । सो ही दिखलाते है—वह वढई ' इस काष्टको इस कुठार (कुहाड़े) से घडूंगा ' ऐसा जो कुठारको ग्रहण करनेरूप परिणाम है; उससे अपरिणत (रहित) हो कर, उस कुठारको विना ग्रहण किये नहीं घड़ता है, किन्तु कुठारके ग्रहण करनेरूप परिणामसे सहित होकर उस कुठारको ग्रहण करके ही काष्टको घडता है । और जब वह वढई कुठारग्रहणरूप परिणामसे विशिष्ट हुआ तो सिद्ध हुआ कि कुठार भी उस काष्टके घडनेमें व्यापार करता है और वह वढईरूप पुरुषभी काष्टके घडनेमें व्यापार करता है । और इस उक्त प्रकारसे काष्टके घडनेरूप अर्थक्रियाकी साधकतासे वढई तथा कुठारके अभेद भी सिद्ध होता है अर्थात् जैसे कुठारसे काष्ट घडा जाता है, उसी प्रकार उस वढईसे भी घडा जाता है;

अत काष्टछेदनरूप एक अर्थक्रियाको करनेसे बढ़ई और कुठार ये दोनों किसी अपेक्षासे अभिन्न भी हैं। अत तुम ' ये दोनों भिन्न ही हैं ' ऐसा कैसे कहते हो। इसी प्रकार आत्मा भी ' विवक्षित (अमुक) अर्थको इस ज्ञानसे जानूंगा ' इस प्रकारके ज्ञानग्रहणरूप परिणामसे सहित हुआ ज्ञानको ग्रहण करके पदार्थको जानता है। और जब ऐसा हुआ तो पदार्थके जाननेरूप एक अर्थके साधक होनेसे ज्ञान और आत्मा ये दोनों भी अभिन्न ही सिद्ध हुए। इस प्रकार कर्ता और करणके अभेद सिद्ध होने पर हम प्रश्न करते हैं कि, वह संवित्ति (जानने) रूप कार्य क्या ? आत्मामें स्थित है, अथवा विषय (जिस पदार्थको आत्मा जानता है, उस) में स्थित है, इसका उत्तर कहना चाहिये। यदि कहो कि, संवित्तिरूप कार्य आत्मामें स्थित है, तब तो हमारा मनोरथ सिद्ध होगया अर्थात् हम जैनी भी जाननेरूप कार्यको आत्मामें ही मानते हैं। यदि कहो कि, विषयमें स्थित है, तो आत्माके सुख-दुःख आदिका अनुभव कैसे प्रतीत होता है ? । उत्तरमें कदाचित् यह कहो कि विषयमें विद्यमान जो संवित्ति है, उससे आत्माके अनुभव होता है, तो वह अनुभव उस एक आत्माके ही क्यों होता है अन्य आत्माओंके क्यों नहीं होता है। कारण कि, भेदका अविशेष है अर्थात् जैसे विषयस्थितसंवित्तिसे दूसरे आत्मा भिन्न हैं, वैसे ही वह आत्मा भी भिन्न है।

अथ ज्ञानात्मनोरभेदपक्षे कथं कर्तृकरणभाव इति चेत्–ननु यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीत्यत्र ' अभेदे यथा कर्तृकरणभावस्तथात्रापि '। अथ परिकल्पितोऽयं कर्तृकरणभाव इति चेद्वेष्टनावस्थायां प्रागवस्थाविलक्षणगतिनिरोधलक्षणार्थक्रियादर्शनात्कथं परिकल्पितत्वम्। न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मना वेष्टयतीति वक्तुं शक्यम्। तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभावः सिद्ध एव। किञ्च चैतन्यमितिशब्दस्य चिन्त्यतामन्वर्थः। चेतनस्य भावश्चैतन्यम्। चेतनश्चात्मा त्वयापि कीर्त्यते। तस्य भावः स्वरूपं चैतन्यम्। यच्च यस्य स्वरूपं न तत्ततो भिन्नं भवितुमर्हति। यथा वृक्षाद्वृक्षस्वरूपम्।

अब यदि तुम (वैशेषिक) ऐसा प्रश्न करो कि,—ज्ञान और आत्माके अभेद माननेमें कर्तृकरणभाव कैसे होगा अर्थात् यह कर्ता है, यह करण है ऐसी व्यवस्था कैसे होगी, तो उत्तर यह है कि, सर्प आपको अपनेसे वेष्टित करता है अर्थात् वेढ़ता (घेरता) है ' यहां पर जैसे कर्ता और करणके अभेद होने पर भी कर्तृकरणभाव है, उसी प्रकार ' आत्मा ज्ञानसे

१ ख ग पुस्तकयोरेष पाठो न विद्यते।

जानता है ' यहां भी कर्तृकरणभाव होता है । यदि कहो कि,—यह कर्तृकरणभाव परिकल्पित अर्थात् असत्य है; तो सर्पकी वेष्टन अवस्थामें पूर्व अवस्थासे विलक्षण गमनके निरोध रूप अर्थक्रियाको देखनेसे परिकल्पित कैसे है अर्थात् जब सर्प आपको अपनेसे वेढता है; उससमय वह पहलेकी जो गमनरूप अर्थक्रिया है, उसको छोड़कर गमनके बंद होनेरूप अर्थक्रियाको धारण करता है, अतः उसमें कर्तृकरणभाव कल्पित नहीं हो सकता है । क्योंकि, सैंकडों कल्पनाओंसे भी यह पाषाणका स्तंभ (थंभा) आपको अपनेसे वेष्टित करता है, ऐसा नहीं कह सकते है । इस कारण आत्मा और ज्ञान इन दोनोंके अभेद होनेपर भी कर्तृकरणभाव सिद्ध हो ही गया । और भी विशेष यह है कि; तुम चैतन्य इस शब्दके यथार्थ अर्थका विचार करो । चेतनका जो भाव होता है, वह चैतन्य कहलाता है और आत्माको चेतन तुम भी कहते हो, उस आत्माका जो भाव अर्थात् स्वरूप है; वह चैतन्य (ज्ञान) है । और जो जिसका स्वरूप होता है, वह उससे भिन्न नहीं हो सकता है । जैसे कि; जो वृक्षका स्वरूप है; वह वृक्षसे कदापि भिन्न नहीं होता है ।

अथास्ति चेतन आत्मा । परं चेतनासमवायसम्बन्धात् । न स्वतः । तथाप्रतीतेरितिचेत्—तदयुक्तम् । यतः प्रतीति श्चेत्प्रमाणीक्रियते तर्हि निर्बाधमुपयोगात्मक एवात्मा प्रसिद्ध्यति । न हि जातुचित्स्वयमचेतनोऽहं, चेतनायोगाच्चे- तनः, अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति । ज्ञाताहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः । भेदे तथाप्रतीतिरिति चेत् । न । कथं चित्तादात्म्याऽभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात् । यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद्दृष्टा । न पुनस्तात्त्विकी । उपचारस्य तु वीजं पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वादिगुणैरभेदः । उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । तथा चात्मनि ज्ञाताहमितिप्रतीतिः कथंचिच्चेतनात्मतां गमयति । तामन्तरेण ज्ञाताहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वात् । घटादिवत् । न हि घटादिरचेतनात्मको ज्ञाताहमिति प्रत्येति । चैतन्ययोगाऽभावादसौ न तथा प्रत्येतीतिचेत् । न । अचेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात् । इत्यचे तनत्वं सिद्धमात्मनो जडस्यार्थपरिच्छेदं पराकरोति । तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपतास्य स्वीकरणीया ।

यदि कहो कि; आत्मा चेतन तो है; परंतु समवायसंबंधसे है अर्थात् समवायसंबंधसे ज्ञान आत्मामें समवेत है, अतः ज्ञानके योगसे चेतन है और आत्मा स्वयं चेतन नहीं है । क्योंकि ऐसी ही प्रतीति होती है । सो यह कहना अनुचित है । क्योंकि,

यदि तुम प्रतीतिको ही प्रमाण करते हो तो विना किसी वाधाके ज्ञानस्वरूप ही आत्मा सिद्ध होता है। क्योंकि, 'मै स्वय अचेतन
हू, चेतना (ज्ञान) के योगसे चेतन हुआ हू, अथवा मुझ अचेतन आत्मामें चेतनाका समवाय है, ऐसी प्रतीति कदाचित् भी
नहीं होती हे। कारण कि 'मै ज्ञाता (जानने वाला) हू' इस प्रकारकी समानअधिकरणपनेरूप प्रतीति होती है। यदि कहो कि,—
यह प्रतीति आत्मा और ज्ञानके भेद होनेपर भी हो जावेगी। सो नहीं। क्योंकि, कथचित् तादात्म्य (अभिन्नता) के अभावमें
सामानाधिकरण्यप्रतीति कहीं भी देखनेमें नहीं आती हे अर्थात् जब किसी न किसी प्रकारसे एककी दूसरेके साथ अभिन्नता होती
है, तभी उन दोनोंके समानअधिकरणपनेरूप प्रतीति होती है। ओर जो पुरुष यष्टि हे अर्थात् यह पुरुष यष्टि (लाठी व
लकड़ी) रूप है, इत्यादि प्रतीति होती है, वह पुरुष और यष्टिके परस्पर भेद होनेपर भी उपचारसे देखी जाती है। और
'पुरुष यष्टि है' यह प्रतीति तत्त्वरूप अर्थात् यथार्थ नहीं हे। तथा पुरुषके यष्टिमें प्राप्त स्तब्धता आदि गुणोंसे जो अभेद है,
वही उपचारका कारण हे। क्योकि, उपचार मुख्य अर्थको स्पर्श करनेवाला होता हे। **भावार्थ**—पुरुष यष्टि है, इस प्रतीतिमें
यद्यपि पुरुष ओर यष्टि दोनों भिन्न २ हैं, तथापि यष्टिके जो स्तब्धता आदि गुण है, वे पुरुषमें भी है, अत यष्टिके स्तब्ध
ता आदि मुख्य गुणोंको ग्रहण करके पुरुषमें यष्टिका उपचार किया गया है। और जेसे 'पुरुष यष्टि हे' यह प्रतीति
पुरुषमें स्तब्धता आदि गुणोंसे कथचित् यष्टिरूपता जनाती हे, उसी प्रकार 'मै ज्ञाता हू' यह प्रतीति आत्मामें कथचित् चैतन्यरू
पता द्योतित करती हे। क्योंकि, उस चैतन्यरूपताके विना 'मै ज्ञाता हू' ऐसी प्रतीति उत्पन्न नहीं होती हे। घट आदिके समान।
क्योंकि, अचेतनरूप घट 'मै ज्ञाता हू' इस प्रतीतिको नहीं करता है। और 'मै ज्ञाता हू' ऐसी प्रतीति आत्माके होती हे, अत
'आत्मा कथचित् चेतनरूप है' यह निश्चित होता है। यदि कहो कि, घटमें चैतन्य (ज्ञान) का योग नहीं है अर्थात्
घटमें ज्ञान समवायसबधसे नहीं रहता है, इसकारण घट 'मे ज्ञाता हू' ऐसी प्रतीति नहीं करता है, सो नहीं। क्योंकि,
अचेतनके भी चैतन्यके योगसे 'मै चेतन हू' ऐसी प्रतीति होती है" यह जो तुम्हारा अङ्गीकार (मत) है, उसका अभी
ऊपर ही खडन कर चुके है। इस प्रकार जड़ आत्माके सिद्ध हुआ अचेतनपना आत्माके विषयज्ञानको दूर करता है। और जो
आत्माके पदार्थका ज्ञान चाहता है, उसको आत्माके चैतन्यस्वरूपता स्वीकार करनी चाहिये। **भावार्थ**—अचेतन आत्मा पदार्थको

नही जान सकता है; अतः यदि तुम (वैशेषिक) आत्माको ज्ञाता (पदार्थोंका जाननेवाला) मानना चाहते हो तो पहले आत्माको चैतन्यस्वरूप (ज्ञानरूप) स्वीकार करो।

ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः। अन्यथा धनवानितिप्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्गात्। तदसत्। यतो ज्ञानवानहमिति नात्मा भवन्मते प्रत्येति जडत्वैकान्तरूपत्वात्। घटवत्। सर्वथा जडश्च स्यादात्मा ज्ञानवानहमितिप्रत्ययश्च स्यादस्य विरोधाऽभावात्। इति मा निर्णैषीःतस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात्। ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नाऽगृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते। स्वमतविरोधात्। " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः " इति वचनात्।

शंका—'मै ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होता है। क्योंकि, यदि इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद न होवे तो 'मै धनवान हूं' इस प्रत्ययसे धन और धनवान इन दोनोंके भेदके अभावका प्रसंग होगा। **भावार्थ**—वैशेषिक अब यहांपर ऐसा कहते है कि, यदि 'मै ज्ञाता हूं' इस पूर्वोक्त प्रत्ययसे आत्मा तथा ज्ञानके भेद सिद्ध नही होता है, तो अस्तु मत हो; परन्तु 'मै धनवान हूं' इस प्रत्ययसे जैसे धनके और धनवानके भेद प्रतीत होता है; उसी प्रकार 'मै ज्ञानवान हू' इस प्रत्ययसे आत्मा और ज्ञानके भेद सिद्ध होता है। **समाधान**—यह तुम्हारा कहना मिथ्या है। क्योंकि तुम्हारे मतमें आत्मा सर्वथा जडरूप है; अतः 'मै ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीतिं नही कर सकता है। घटके समान अर्थात् जैसे–सर्वथा जड होनेसे घट उक्त प्रतीतिको नहीं करता है; वैसे ही आत्मा भी उक्त प्रतीतिको नहीं कर सकता है। अब कदाचित् ऐसा कहो कि; आत्मा सर्वथा जड भी है और मैं 'ज्ञानवान हूं' इस प्रत्ययका धारक भी है। क्योंकि; ऐसा माननेमें कोई विरोध नही है। सो तुम ऐसा भी निर्णय मत करो। क्योंकि; आत्माके 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीति ही नही होती है। कारण कि, 'मैं ज्ञानवान हूं' यह प्रत्यय ज्ञाननामक विशेषण और आत्मानामक विशेष्यको ग्रहण किये विना कदाचित् भी उत्पन्न नही होता है। क्योंकि; 'विशेषणको ग्रहण किये विना विशेष्यमें बुद्धि नही होती है' ऐसा वचन है, अतः तुम्हारे मतसे विरोध होगा।

गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्–कुतस्तद्गृहीतिः। न तावत्स्वतः। स्वसंवेदनाऽनभ्युपगमात्। स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते। नान्यथा। सन्तानान्तरवत्। परतश्चेत्तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते

ज्ञानान्तरविशेषणे प्रवीर्णु ज्ञानम् । गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात्वग्रहणं भाव्यम् । इत्यनवस्थाना दुग्रः प्रकाशकत्व । तदेवं नात्मनो जडस्वरूपता मगच्छते । तदग्रहणे च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदि- ति यद्भाष्यम् ।

यदि कहो कि, जब आत्मा ज्ञानाकार विशेषण और आत्माकार विशेष्य, इन दोनोंको ग्रहण कर चुकता है, तब 'मैं ज्ञानवान् हूँ' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, तो यहां पर हम प्रश्न करते हैं कि, आत्माके उक्त ज्ञान तथा आत्माका ग्रहण किससे हुआ? यदि उत्तरमें कहो कि, आत्मा मन (अपने आप ही से) उन दोनोंका ग्रहण कर लेता है, तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि, तुमने आत्मा तथा ज्ञानको स्वसंवेदक (अपने आपको जाननेवाला) नहीं माना है। भावार्थ—यदि आत्मा और ज्ञान ये दोनों स्वसंविदित (अपने आप जाननेमें आते हुए) होवें, तब तो आत्माके ज्ञान तथा आत्माका ग्रहण हो सकता है और अन्यप्रकारसे नहीं। दूसरे पदार्थके समान। अर्थात् जैसे घट पट आदि दूसरे पदार्थ (पदार्थ) अस्वसंवेदक होनेसे ज्ञान तथा आत्माका ग्रहण नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान व आत्माके ग्रहण करनेमें असमर्थ है। यदि कदाचित् ऐसा कहो कि, आत्मा पर (दूसरे) ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञानाकार विशेषणको ग्रहण करता है, तो वह दूसरा ज्ञानरूप विशेष्य भी अपने ज्ञानान्तरविशेषणको ग्रहण किये विना इस आत्माके ज्ञानरूपविशेषणको ग्रहण करनेमें असमर्थ है। क्योंकि, घटत्वका ग्रहण होनेपर घटका ग्रहण होता है। भावार्थ—जैसे तुम्हारे मतमें घटत्वका ग्रहण हो चुकने पर घटका ग्रहण होता है, उसी प्रकार ज्ञानत्वका ग्रहण होनेके पश्चात् ही ज्ञानका ग्रहण होना चाहिये। इस कारण दूसरे ज्ञानके ज्ञानत्वका ग्रहण तीसरे ज्ञानसे और तीसरे ज्ञानके ज्ञानत्वका ग्रहण चौथे ज्ञानसे इस उत्तरोत्तर ज्ञानका ग्रहण उत्तरोत्तर ज्ञानसे मानोगे तो कहीं भी स्थिति न होगी अर्थात् अनवस्था दोष प्राप्त होगा। तब आत्माके 'मैं ज्ञानवान् हूँ' यह ज्ञान प्रकाश किससे होवे? अर्थात् किसी प्रकारसे भी आत्मा 'मैं ज्ञानवान् हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं कर सकता है। सो इस पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माके जडरूपपना प्राप्त नहीं होता है अर्थात् आत्मा जड सिद्ध नहीं होता है। और आत्माके जडरूपताकी प्राप्ति नहीं होनेपर 'ज्ञान उपाधिजनित होनेके कारण आत्मासे भिन्न है' यह जो तुम वैशेषिकोंका कहना है, सो व्यर्थ है अर्थात् व्यर्थ है।

१ जडस्वरूपताया अभावात्

तथा यदपि न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति व्यवस्थापनायामनुमानमवादि सन्तानत्वादिति। तत्राभिधीयते । ननु किमिदं सन्तानत्वं स्वतन्त्रमपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा, एकाश्रयाऽपरापरोत्पत्तिर्वा । तत्राद्यः पक्षः सव्यभिचारः । अपरापरेषामुत्पादुकानां घटपटकटादीनां सन्तानत्वेऽप्यत्यन्तमनुच्छिद्यमानत्वात् । अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि तादृशं सन्तानत्वं प्रदीपे नास्तीति साधनविकलो दृष्टान्तः। परमाणुपाकजरूपादिभिश्च व्यभिचारी हेतुः। तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात् । अपि च सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्च भविष्यति। विपर्यये वाधकप्रमाणाऽभावात्। इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादप्यनैकान्तिकोऽयम् । किञ्च स्याद्वादवादिनां नास्ति क्वचिदत्यन्तमुच्छेदो द्रव्यरूपतया स्थाष्णूनामेव सतां भावानामुत्पादव्यययुक्तत्वात्। इति विरुद्धश्च । इति नाधिकृतानुमानाद्बुद्ध्यादिगुणोच्छेदरूपा सिद्धिः सिध्यति ।

और जो तुमने ' ज्ञान तथा सुखस्वरूप मोक्ष नहीं है ' इस विषयको सिद्धकरनेके लिये संतानपनेसे अर्थात् ' आत्माके ज्ञान सुख आदि नवों विशेषगुणोंका संतान अत्यंत नाशको प्राप्त होता है; संतानपना होनेसे ' ऐसा अनुमान कहा है; उसमें हम यह कथन करते है कि; वह संतानत्व क्या है ? अर्थात् स्वतंत्र अपर अपर (भिन्न २) पदार्थोंकी उत्पत्तिरूप ही संतानत्व है ? अथवा एक आश्रय (अधिकरण) में अपर अपर पदार्थोंकी उत्पत्तिरूप संतानत्व है । यदि कहो कि;— स्वतंत्ररूपसे जो भिन्न २ पदार्थोंकी उत्पत्ति है; वही संतानत्व है; तव तो यह तुम्हारा विकल्प व्यभिचार सहित है अर्थात् आत्माको ज्ञान—सुखरहित सिद्ध करनेके अर्थ जो तुमने संतानत्व हेतु दिया है; वह व्यभिचारी है । क्योंकि; उत्पन्न होनेवाले जो अपर अपर घट पट कट (चटाई) आदि है, इनके सतानपना होनेपर भी अत्यंत नाशवानपना नहीं है । **भावार्थ**—वैशेषिकमतमें घट आदि संतानोंका निरन्वय नाश नहीं होता है अर्थात् नष्ट हुए घट आदि पदार्थोंका परमाणुपर्यन्त समवायी रहता है । इस कारण घट आदिक संतान है तो भी उनका सर्वथा नाश नहीं होता है । अतः प्रकृत अनुमानमें जो संतानत्व हेतु है; वह सर्वथा नष्ट होनेवाले ज्ञान सुख आदिमें भी रहता है और सर्वथा नष्ट न होनेवाले घट पटादिमें भी रहता है; इसकारण व्यभिचारी है । यदि कहो कि; एक ही आश्रयमें जो अपर अपर पदार्थोंकी उत्पत्ति है; वह संतानत्व है; तो ऐसा संतानत्व प्रदीपमें नहीं है, इसकारण साधनविकल दृष्टान्त है । **भावार्थ**—प्रदीपमें जो संतान है; उसका अधिकरण एक नहीं है । क्योंकि पूर्ववन्हिज्वाला

रूप जो प्रदीप है, वह जिस क्षणमें पूर्व वह्निज्वाला नष्ट होती है, उसी क्षणमें नष्ट हो जाता है। इस कारण उक्त अनुमानमें जो
तुमने प्रदीपका दृष्टान्त दिया है, वह साधनविकल (साधनसे शून्य) है। और परमाणुमें जो पाकजरूप आदि हैं, उनसे यह हेतु
व्यभिचारी भी है। क्योंकि, उन रूप रस आदिमें परमाणुरूप एक आश्रयमें होनेवाले अपर अपर रूप रस आदि संतान हैं, तो भी
उनका अत्यंत नाश नहीं होता है। भावार्थ—वैशेषिकमतमें पृथिवीके परमाणुमें पाक होता है, और जब घट रूप अवयवीका
अग्निके संयोगसे नाश हो जाता है तब स्वतंत्र (अवयवी रहित) जो परमाणुरूप अवयव हैं, उनमें पाक होता है और फिर
पके हुए परमाणुओंके संयोगसे अदृष्टके बलसे पुन घट हो जाता है, ऐसी व्यवस्था है। अत घटको अग्निमें धरनेसे जब उस
घटका परमाणुपर्यन्त विभाग होता है, तब उन परमाणुओंमें जो पूर्व घटके रूप, रस आदि संतान हैं, वे बदलकर दूसरे रूप रस
आदि रूपसे उत्पन्न होते हैं इसकारण यद्यपि पूर्व तथा अपर रूप रस आदिका संतानत्व परमाणुरूप एक आश्रयमें रहता है, तो
भी उन रूपादिक संतानोंका सर्वथा नाश नहीं है। इस कारणसे भी संतानत्वरूप हेतु व्यभिचारी है। और संतानत्व भी होगा,
अत्यंत नाश भी न होगा, इस विपरीततर्कमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अर्थात् घट आदि पदार्थ संतान भी हैं और उनका
सर्वथा नाश भी नहीं है, ऐसा यदि विपरीत तर्क किया जावे तो इस तर्कका बाधक कोई दूसरा प्रमाण नहीं है, इसकारण यह
संतानत्व हेतु संदिग्ध है विपक्षसे व्यावृत्ति जिसकी ऐसा होनेके कारण अनैकान्तिक भी है। भावार्थ—वैशेषिकोंके प्रयुक्त
अनुमानमें सर्वथा उच्छेद्यत्वरूप साध्यका अभावस्वरूप जो अनुच्छेद्यत्व है, उस अनुच्छेद्यत्वके धारक घटादि संतान हो सकते हैं,
इस कारण विपक्षरूप घटादिमें सर्वथा उच्छेद्यत्वकी रहिततामें सन्देह होनेसे यह संतानत्व हेतु अनैकान्तिक भी है।

नापि " न हि वै सशरीरस्य " इत्यादेरागमात्। स हि शुभाशुभादृष्टपरिपाकजन्ये सांसारिकप्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते अपेक्ष्य व्यवस्थित । मुक्तिदशायां तु सकलादृष्टक्षयहेतुकमैकान्तिकमात्यन्तिकं च केवलं प्रियमेव। तत्कथं प्रतिषिध्यते। आगमस्य चायमर्थ । सशरीरस्य गतिचतुष्टयान्यतमस्थानवर्त्तिन आत्मन प्रियाप्रिययो परस्परानुषक्तयो सुखदु खयोरपहतिरभावो नास्तीति। अवश्यं हि तत्र सुखदु खाभ्यां भाव्यम्। (परस्परानुषक्तत्वं च समासकरणादभ्यूह्यते)। अशरीरं मुक्तात्मानं (वा शब्दस्यैवकारार्थत्वात्) अशरीरमेव वसन्तं सिद्धिक्षेत्रमध्यासीनं प्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते सुखदु खे न स्पृशत ।

और ' नहि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ' इत्यादि आगमका प्रमाण जो तुमने दिया है; उससे भी मुक्त अवस्थामें आत्मा सुखदुःख रहित नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि, वह आगम शुभअदृष्ट (पुण्य) तथा अशुभअदृष्ट (पाप); इन दोनोंके उदयसे उत्पन्न हुआ और परस्परानुपक्त (आपसमें एकके पीछे दूसरा लगा हुआ) ऐसा जो संसारसंबंधी सुख तथा दुःख है; उसकी अपेक्षाकरके व्यवस्थित है.। और मुक्त अवस्थामें तो समस्त–पुण्य पापके नाशसे उत्पन्न हुआ ऐसा केवल एकान्तिक (सर्वथा) तथा आत्यंतिक (फिर नाशको प्राप्त न होनेवाला) सुख ही है। अतः वह आगम उस सुखका निषेध कैसे कर सकता है। तथा आगमका अर्थ यह है कि; सशरीर अर्थात् नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव नामक चार गतियोंमेसे किसी भी एक गतिमें रहनेवाले आत्माके प्रिय अप्रियका अर्थात् परस्परानुपक्त जो सुख तथा दुःख है; उन दोनोंका अपहति (अभाव) नास्ति (नहीं है) इस कारण उन चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीवके नियमसे सुख और दुःख ये दोनों होने चाहिये। [' प्रियाप्रिय ' यहा पर जो द्वंद्वसमास किया गया है; उससे सुख तथा दुःखके परस्परानुपक्तताका ग्रहण होता है] और 'वसन्तं' मुक्तिके स्थानमें विराजमान 'अशरीर' मुक्त आत्माको 'वा' ही 'प्रियाप्रिये' परस्परानुपक्त सुख तथा दुःख, ये दोनों ' न स्पृशतः ' नहीं स्पर्श करते हे (यहां वा शब्द एवकारके अर्थमें है।)

इदमत्र हृदयम्। यथा किल संसारिणः सुखदुःखे परस्परानुपक्ते स्यातां न तथा मुक्तात्मनः। किंतु केवलं सुखमेव। दुःखमूलस्य शरीरस्यैवाऽभावात्। सुखं त्वात्मस्वरूपत्वादवस्थितमेव। स्वस्वरूपावस्थानं हि मोक्षः। अत एवचाऽशरीरमित्युक्तम्। आगमार्थश्चायमित्थमेव समर्थनीयः। यत एतदर्थानुपातिन्येव स्मृतिरपि दृश्यते। " सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। तं वै मोक्षं विजानीयाद्–दुष्प्रापमकृतात्मभिः। १। " न चायं सुखशब्दो दुःखाऽभावमात्रे वर्तते। मुख्यसुखवाच्यतायां बाधकाऽभावात्। अयं रोगाद्विप्रमुक्तः सुखी जात इत्यादिवाक्येषु च सुखीतिप्रयोगस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गाच्च दुःखाभावमात्रस्य रोगाद्विप्रमुक्त इतीयतैवगतत्वात्।

भावार्थ यहा पर यह है कि; जैसे–संसारी जीवके परस्परानुपक्त सुखदुःख होते हैं अर्थात् जैसे संसारमें जीवके सुखके पीछे दुःख और दुःखके पीछे सुख होता है; वैसे परस्परानुपक्त सुख, दुःख मुक्त आत्माके नहीं होते हैं; किन्तु मुक्त जीवके केवल सुख ही होता है। क्योंकि; दुःखका मूल (असाधारण कारण) जो शरीर है, उस शरीरका ही उस मुक्त जीवके अभाव है।

और सुख तो आत्माका स्वरूप होनेसे मुक्त जीवके है ही है। क्योंकि, अपने स्वरूपमें जो स्थित होना है, वही मोक्ष कहलाता है, भावार्थ—सुख आत्माका स्वरूप है। और स्वरूपमें स्थित होना ही मोक्ष है, अत मुक्तजीवके सुख है ही। तथा इसी कारण 'अशरीरं वा' इत्यादि आगममें अशरीर ऐसा कहा है। और इस आगमके अर्थका इसी प्रकार तुमको समर्थन करना चाहिये अर्थात् हमने जैसा आगमका अर्थ किया है, वैसा ही तुमको करना चाहिये। क्योंकि उस आगमके अर्थका अनुसरण करनेवाली स्मृति भी देखी जाती है। वह यह है कि, 'जहा बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य और इन्द्रियोंके अगोचर ऐसा आत्यंतिक सुख है, उसीको पापी जीवोंको दुर्लभ (दु खसे प्राप्त होने वाला) मोक्ष जानना चाहिये। १।" और यहा पर यह सुख शब्द केवल दु खके अभावमें ही नहीं है। अर्थात् यदि तुम कहो कि, यहा सुखशब्दसे दु खके अभावरूप अर्थका ही ग्रहण है, सो नहीं है। क्योंकि प्रथम तो सुख शब्दका मुख्य सुखरूप अर्थके करनेमें कोई बाधक नहीं है, दूसरे यदि सुखसे दु खका अभाव ही माना जावे तो 'यह रोगसे रहित होकर सुखी हो गया' इत्यादि वचनोंमें पुनरुक्तिदोषका प्रसग होता है। भावार्थ—यदि दु खके अभावको ही सुख मानो तो 'यह रोगसे रहित हो गया' इस कहनेसे ही यह सुखी होगया ऐसा समझ लिया जावेगा अत 'यह रोगसे रहित होकर सुखी हो गया' ऐसा कथन करनेमें पुनरुक्तिदोष होगा और वह तुमको इष्ट नहीं है।

न च भवदुदीरितो मोक्ष पुसामुपादेयतया समत । को हि नाम शिलाकल्पमपगतसकलसुखसवेदनमात्मानमुपपादयितु यतेत । दु खसवेदनरूपत्वादस्य। सुखदु खयोरेकस्याभावे परस्यावश्यम्भावात् । अत एव त्वदुपहास श्रूयते। "वर वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्। न तु वैशेषिकीं मुक्ति गौतमो गन्तुमिच्छति। १।" सोपाधिकसावधिकपरिमितानन्दनिष्यन्दात्स्वर्गादप्यधिक तद्विपरीतानन्दमम्लानज्ञान च मोक्षमाचक्षते विचक्षणा'। यदि तु जड पाषाणनिर्विशेष एव तस्यामवस्थायामात्मा भवेत्तदलमपवर्गेण। ससार एव वरमस्तु। यत्र तावदन्तरान्तरापि दु खकलुषितमपि कियदपि सुखमनुभुज्यते। चिन्त्यता तावत्किमल्पसुखानुभवो भव्य उत सर्वसुखोच्छेद एव।

और तुम्हारे कहे हुए मोक्षको मनुष्य उपादेय (ग्रहण करने योग्य) रूप नहीं मानते हैं। क्योंकि, ऐसा कौन पुरुष है जो शिलाके समान् सब सुखोंके ज्ञानसे रहित ऐसे आत्माको बनानेके लिये प्रयत्न करे, भावार्थ—जैसे शिला (एक पाषाणभेद)

सुखके अनुभवसे रहित है; उसी प्रकार तुह्मारे मोक्षमें भी जीव सुखके ज्ञानसे रहित हो जाता है। अतः हितका चाहनेवाला कोई भी पुरुष अपने आत्माको सुख रहित बनाना नही चाहता है। क्योंकि,–सुख और दुःख इन दोनोंमेंसे एकका अभाव होनेपर दूसरेका अवश्य सद्भाव रहता है, अतः वह तुम्हारा मोक्ष दुःखके अनुभव रूप है। **भावार्थ**—जहां सुख नहीं रहता है; वहां दुःख और जहां दुःख नहीं रहता है; वहां सुख नियमसे रहता है और तुम्हारे मोक्षमें सुखका अनुभव होता नहीं है; अतः वह तुम्हारा मोक्ष दुःखके अनुभव रूप (दुःखरूप) है। और इसी कारण तुम्हारा उपहास भी सुना जाता है। वह यह है—"न्यायदर्शनके कर्त्ता गोतममुनि मनोहर वृंदावनमें शृगाल (गीदड) होनेकी इच्छाके करनेको तो अच्छा समझते है। परंतु वैशेपिकोंकी मुक्तिमें जानेकी इच्छा नही करते है। **भावार्थ**—गोतम ऋपी वैशेपिकोंके ज्ञान–सुख रहित मोक्षमें जानेसे वृंदावनमें शृगाल हो जाना अच्छा समझते है। और उपाधिसहित, मर्यादाके धारक (इस देवको यहां इतने समय ही सुख मिलेगा इससे अधिक नहीं ऐसी हद्दवाले) तथा परिमित (इसको यहां इस इस प्रकारका इतना ही सुख मिलेगा, इससे अधिक नहीं, इस प्रकारके परिमाण अर्थात् अंदाज वाले) आनंदको देनेवाला जो स्वर्ग है; उससे भी अधिक उपाधिरहित, मर्यादारहित और अपरिमाण सुखको धारण करनेवाला तथा नही मलीन हुआ है; ज्ञान जिसमें ऐसा अर्थात् परिपूर्ण निर्मल ज्ञानसहित ऐसा मोक्ष कहते हैं। और यदि आत्मा पापाणके समान जडरूप ही उस मोक्षअवस्थामें होवे तो ऐसे मोक्षसे पूर्णता हो अर्थात् उस मोक्षसे पूरा पडो। ससार ही अच्छा रहो कि; जिसमें दुःखसे कलुपित ऐसा भी कुछ २ सुख वीच २ में भोगा जाता है। **भावार्थ**—सुखके अभावरूप मोक्षसे संसार ही अच्छा है; जिसमें कभी कभी थोडा २ सुख भोगनेमें आता है। तुम (वैशेपिक) ही विचार करो कि; क्या अल्प सुखका अनुभव करना अच्छा है? वा सव सुखका नाश हो जाना ही अच्छा है?।

अथास्ति तथाभूते मोक्षे लाभातिरेकः प्रेक्षादक्षाणाम्। ते ह्येवं विवेचयन्ति। संसारे तावद् दुःखास्पृष्टं सुखं न सम्भवति। दुःखं चावश्यहेयम्। विवेकहानं[1] चानयोरेकभाजनपतितविपमधुनोरिव दुःशकमत एव द्वे अपि त्यज्येते। अतश्च संसारान्मोक्षः श्रेयान्। यतोऽत्र दुःखं सर्वथा न स्याद्। वरमियती कादाचित्कसुखमात्रापि त्यक्ता न तु तस्याः कृते दुःखभार इयान् व्यूढ इति।

[1] विवेकेन पृथक्त्वेन दुःखस्य त्यागः।

शंका—हमारे ज्ञान सुखरहित मोक्षमें हेयोपादेयके विचारमें चतुर पुरुषोंको ससारकी अपेक्षा विशेष लाभ है। भावार्थ— अब वैशेषिक ऐसा कहते हैं कि, ससारमें जो सुख होता है, वह दु खसे अस्पर्शित नहीं होता है अर्थात् ससारसबधी सुखकी आदिमें भी दु ख होता है और अतमें भी दु ख होता है। और दु ख अवश्य छोडने योग्य हे। तथा जैसे एक पात्रमें गिरे हुए मधु (सहत) तथा विष (जहर) इन, दोनोंमेंसे विषको निकालकर उसका त्याग कर देना अत्यत कठिन है, उसी प्रकार इन सासारिक सुखदुखोंमेंसे दु खको जुदा करके उस दु खका त्याग कर देना भी बहुत ही कठिन है। इस कारण ससार सबधी सुख तथा दु ख ये दोनों ही छोडे जाते हैं। अत ससारसे मोक्ष ही अच्छा है कि, जिसमें सर्वथा दु ख होता ही नहीं है। क्योंकि, यह कभी कभी होनेवाले सुखका अश भी यदि छोड दिया जावे तो अच्छा है, परतु उस थोडेसे सुखके अर्थ इतने दु खोंके समूहका सहन करना (भोगना) अच्छा नहीं है।

तदेतत्सत्यम्। सासारिकसुखस्य मधुदिग्धधाराकरालमण्डलाग्रग्रासवद्दु खरूपत्वादेव युक्तैव मुमुक्षुणा तज्जिहासा। किन्त्वात्यन्तिकसुखविशेषलिप्सूनामेव। इहापि विषयनिवृत्तिज सुखमनुभवसिद्धमेव। तद्यदि मोक्षे विशिष्ट नास्ति ततो मोक्षो दु खरूप एवापद्यत इत्यर्थ। ये अपि विषमधुनी एकल सम्पृक्ते त्यज्येते ते अपि सुखविशेषलिप्सयैव। किञ्च यथा प्राणिना ससारावस्थाया सुखमिष्ट, दु ख चानिष्टम्। तथा मोक्षावस्थाया दु खनिवृत्तिरिष्टा, सुखनिवृत्तिस्त्वनिष्टैव। ततो यदि त्वदभिमतो मोक्ष स्यात्तदा न प्रेक्षावता प्रवृत्ति स्यात्। भवति चेयम्। तत सिद्धो मोक्ष सुखसवेदनस्वभाव। प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरन्यथानुपपत्ते।

समाधान—यह वैशेषिकोंका कहना सत्य हे। क्योंकि ससारसबधी जो सुख है, वह सहतसे लिपटी हुई तथा तीक्ष्ण धारवाली ऐसी जो तलवारकी नोंक (अणी) हे, उसको भक्षणकरने (चाटने) के समान है अर्थात् जैसे सहतसे लिपटी हुई तलवारकी नोंकको चाटनेसे प्रथम ही कुछ सुख और अतमें अत्यत दु ख होता हे, उसीप्रकार ससारका सुख भी पहिले कुछ सुखरूप और अतमें महादु खरूप ही हे, इस कारण मोक्षके इच्छक पुरुष जो उस सुखको छोडनेकी इच्छा करते हैं, वह युक्त (ठीक) ही हे। परतु जो एक प्रकारके आत्यतिक सुखको चाहनेवाले मुमुक्षुजन हैं, उन्हींको सासारिक सुखका त्याग करना चाहिये। अर्थात् यदि मोक्षमें आत्यन्तिक सुख होवे तब तो मोक्षाभिलाषियोंको सासारिकसुखके त्यागदेनेकी इच्छाका करना उचित ही हे और मोक्ष

में आत्यंतिक सुख न होवे तो संसारसंबंधी सुखको त्याग देना ठीक नहीं है। और विषयोंकी रहिततासे उत्पन्न होनेवाला सुख यहां भी अनुभव सिद्ध है अर्थात् इस संसारमें भी जो जो वैराग्यका अवलम्बन करके विषयोंका त्याग करते है; उनको एक प्रकारका विलक्षण सुख अनुभव गोचर होता है; इस कारण यदि मोक्षमें सासारिक सुखसे विशिष्ट (ऊचे दर्जेका) सुख नहीं है तो; वह तुम्हारा मोक्ष दुःखरूप ही हो जावेगा। तथा जो एक भाजनमें मिले हुए जहर और सहतका त्याग किया जाता है; वह भी विशेष सुखकी इच्छासे ही किया जाता है अर्थात् उस मिले हुए विषमधुका भक्षण करनेकी अपेक्षा भक्षण न करनेमें सुख अधिक है; इसीकारण उन दोनोंका त्याग किया जाता है। यदि उनके त्यागमें विशेष सुख न हो तो त्याग कदापि न करें। और भी विशेष यह है कि; जैसे जीवोंके संसारअवस्थामें सुख तो इष्ट है और दुःख अनिष्ट है, उसी प्रकार जीवोंके मोक्षअवस्थामें भी दुःखकी रहितता इष्ट है और सुखकी रहितता अनिष्ट ही है; अर्थात् जीव मोक्षमें भी दुःखसे छूटनेकी तथा सुखको भोगनेकी ही इच्छा करते है। इसकारण यदि तुम वैशेषिकोंका माना हुआ ज्ञान–सुख रहित ही मोक्ष होवे तो उस ज्ञान सुख रहित मोक्षमें प्रेक्षावानोंकी प्रवृत्ति न होवे अर्थात् विचारवान पुरुष उस मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न न करें। परंतु विचारवानोंकी मोक्षके अर्थ प्रवृत्ति होती है अतः मोक्ष ' ज्ञान तथा सुखरूप स्वभावका धारक है ' यह सिद्ध हो गया। क्योंकि यदि ज्ञान–सुखरूप मोक्ष न होवे तो अन्यप्रकारसे मोक्षमें विचारवानोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

अथ यदि सुखसंवेदनैकस्वभावो मोक्षः स्यात्तदा तद्रागेण प्रवर्त्तमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमधिगच्छेत्। नहि रागिणां मोक्षोऽस्ति। रागस्य बन्धनात्मकत्वात्। नैवम्। सांसारिकसुख एव रागो बन्धनात्मको विषयादिप्रवृत्तिहेतुत्वात्। मोक्षसुखे तु रागस्तन्निवृत्तिहेतुत्वान्न बन्धनात्मकः। परां कोटिमारूढस्य च स्पृहामालरूपोऽप्यसौ निवर्तते। "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात्। अन्यथा भवत्पक्षेऽपि दुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षाङ्गीकृतौ दुःखविषयं कषायकालुष्यं केन निषिध्येत। इति सिद्धं कृत्स्नकर्मक्षयात्परमसुखसंवेदनात्मको मोक्षो न बुद्ध्यादि-विशेषगुणोच्छेदरूप इति।

शंका—यदि ज्ञान तथा सुखरूप ही मोक्ष होवे तो उस ज्ञानसुखरूप मोक्षके रागसे प्रवृत्ति करता हुआ मुमुक्षुपुरुष मोक्षको ही प्राप्त न होवे। क्योंकि राग बंधनरूप है; इसकारण रागियोंका मोक्ष नहीं होता है। **समाधान**—ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि;

ससारसुखमें जो रागका करना है यही बधन रूप है। कारण कि, वह सासारिकसुखमें रागका करना विषयादिकोंमें प्रवृत्तिका कारण है अर्थात् सांसारिकसुखमें राग होनेसे जीवकी विषय आदिमें प्रवृत्ति होती है और मोक्षसुखमें जो अनुराग है, वह विषयआदिमें निवृत्ति का कारण है अर्थात् मोक्षसुखमें रागके होनेसे जीवके विषयोंसे रहितता होती है, इस कारण वह मोक्ष सुखमें रागका करना बधनरूप नहीं है। तथा उत्कृष्ट कोटि (कक्षा व श्रेणी) में चढ़े हुए जीवके तो केवल इच्छारूप राग भी दूर हो जाता है अर्थात् ऊचे दर्जेको प्राप्त हुए आत्माके तो उस मोक्षसुखमें भी इच्छा नहीं रहती है। क्योंकि, 'जो उत्तम मुनि होता है, वह मोक्ष और ससारमें अर्थात् सभीमें इच्छा रहित रहता है' ऐसा वचन है। यदि ऐसा न होवे तो दु खकी रहिततारूप मोक्षको स्वीकार करनेवाले तुम्हारे पक्षमें भी दु खके विषयमें जो कपायरूप कालुष्य उत्पन्न होता है, उसका कौन निषेध कर सकता है। भावार्थ—जैसे सुखरूप मोक्ष माननेसे मोक्षसुखमें राग होता है, उसी प्रकार दु खरहित मोक्षके माननेसे दु खमें द्वेष तथा मोक्षमें राग उत्पन्न होता है, ओर राग तथा द्वेष ये दोनोंही बधनरूप है इस कारण पराकाष्ठाको प्राप्त हुए योगीके इच्छाका अभाव हो जाता है, यह तुमको भी मानना पडेगा। इस पूर्वोक्त प्रकारसे सपूर्ण कर्मोंका नाश होनेसे जो परमसुख और परमज्ञानस्वरूप मोक्ष होता है, वही यथार्थ मोक्ष है और तुम्हारा माना हुआ जो बुद्धि आदि नव विशेषगुणोंका नाश है, उस स्वरूप मोक्ष नहीं है।

अपि च भोस्तपस्विन्! कथचिदेषामुच्छेदोऽस्माकमप्यभिमत एवेति मा विरूप मन कृथा। तथाहि-बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते। तच्च मतिश्रुतावधिमन पर्यायकेवलभेदात्पञ्चधा। तत्राद्य ज्ञानचतुष्टयं क्षायोपशमिकत्वात्केवलज्ञानाविर्भावकाल एव प्रलीनम्। "नठ्ठ मिउ छाउमच्छिए नाणे" इत्यागमात्। केवल तु सर्वद्रव्यपर्यायगत क्षायिकत्वेन निष्कलङ्कात्मस्वरूपत्वादस्त्येव मोक्षावस्थायाम्। सुख तु वैषयिक तत्र नास्ति। तद्धेतोर्वेदनीयकर्मणोऽभावात्। यत्तु निरतिशयमक्षयमनपेक्षमनन्त च सुख तद्बाढ विद्यते। दु खस्य चाधर्ममूलत्वात्तदुच्छेदादुच्छेद।

ओर हे तपस्विननो! किसी अपेक्षासे हमको भी इन बुद्धि आदि गुणोंका नाश अभीष्ट ही है अर्थात् हम भी कथचित् बुद्धि-आदिका नाश मानते ही है, इस कारण मनको विरूप (उदास अथवा मलीन) मत करो। सोही दिखाते है,—बुद्धि शब्दसे ज्ञान कहा जाता है अर्थात् हमारे मतमें बुद्धिसे ज्ञानका ग्रहण है ओर वह ज्ञान–मति १, श्रुत २, अवधि ३, मन पर्यय ४ और केवल ५, इन भेदोंसे पाच प्रकारका है। उनमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, ओर मन पर्ययज्ञान ये चारों क्षायोपशमिक है

अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्मके एकदेशक्षय और उपशमसे उत्पन्न होते है; इसकारण जब आत्माके केवलज्ञानकी प्रकटता होती है उसी समय नष्ट हो जाते है। क्योंकि ' क्षायोपशमिक ज्ञानोंके नष्ट होनेपर ' ऐसा वचन है। और सब द्रव्य तथा पर्यायोंमें प्राप्त अर्थात् समस्त द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला (जाननेवाला) जो केवल ज्ञान है; वह तो ज्ञानावरणीयकर्मके सर्वथा क्षय (नाश) होनेसे उत्पन्न होता है; इसकारण आत्माका निर्मलस्वरूप होनेसे मोक्ष अवस्थामें है ही है। और विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख तो उस मोक्ष अवस्थामें नही है। क्योंकि; उस विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखका कारण जो वेदनीय नामा कर्म है; उसका मोक्ष अवस्थामें अभाव है। और जो निरतिशय, अविनाशी तथा स्वतंत्र (किसी दूसरेकी अपेक्षा न करनेवाला) और जिसका कभी अंत (पार) न आवे ऐसा सुख तो उस मोक्षअवस्थामें पूर्णरूपसे विद्यमान है। दुःखका कारण अधर्म (पाप) है; उस अधर्मका मोक्ष अवस्थामें अभाव हो गया है, इसकारण दुःखका भी मोक्ष अवस्थामें नाश है।

नन्वेवं सुखस्यापि धर्ममूलत्वाद्धर्मस्य चोच्छेदात्तदपि न युज्यते। " पुण्यपापक्षयो मोक्षः " इत्यागमवचनात्। नैवम्। वैषयिकसुखस्यैव धर्ममूलत्वाद्भवतु तदुच्छेदो न पुनरनपेक्षस्यापि सुखस्योच्छेदः। इच्छाद्वेषयोः पुनर्मोह-भेदत्वात्तस्य च समूलकाषं कषितत्वादभावः। प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव। कृतकृत्यत्वात्। वीर्यान्तराय-क्षयोपनतस्त्वस्त्येव प्रयत्नो दानादिलब्धिवत्। न च क्वचिदुपयुज्यते कृतार्थत्वात्। धर्माधर्मयोस्तु पुण्यपापापरप-र्याययोरुच्छेदोऽस्त्येव। तदभावे मोक्षस्यैवायोगात्। संस्कारश्च मतिज्ञानविशेष एव। तस्य च मोहक्षयानन्तरमेव क्षीणत्वादभाव इति। तदेवं न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति युक्तिरिक्तेयमुक्तिः। इति काव्यार्थः ॥ ८ ॥

शंका—जैसे अधर्ममूलक दुःखका अधर्मके नष्ट होनेसे नाश हो जाता है; उसीप्रकार सुखका भी मूल धर्म है और मुक्तात्माके धर्मका उच्छेद होगया है. अतः मुक्तात्माके सुख भी नहीं रहता है। क्योंकि; ' पुण्य तथा पापका जो नाश है; वही मोक्ष है' ऐसा आगमका वचन है। **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि विषयजनित सुख ही धर्ममूलक है; इसकारण धर्मका नाश होनेसे मुक्तात्माके उस विषयजनितसुखका ही नाश होता है और उस धर्मकी अपेक्षा न करनेवाला जो स्वाभाविक सुख है; उसका मुक्तात्माके नाश नहीं होता है। तथा इच्छा और द्वेष ये दोनों मोहके भेद है; उस मोहको मुक्तजीवने मूलसहित उखाड़ (नष्ट कर) डाला है; अतः मोक्षअवस्थामें जीवके इच्छा तथा द्वेषका अभाव है। और क्रियाके व्यापारके गोचर जो प्रयत्न है;

वह तो मुक्तिमें है ही नहीं । क्योंकि, मुक्तात्मा कृतकृत्य है अर्थात् मुक्तजीवको कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है, जो कुछ
करना था, उसको वह कर चुका है । और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआ जो प्रयत्न है, वह तो मुक्तिमें है ही है । दान
आदि लब्धिके समान । भावार्थ—जैसे–मुक्तजीवके दानान्तरायकर्मके क्षयसे दानलब्धि, भोगान्तरायकर्मके क्षयसे भोगलब्धि आदि
लब्धियें उत्पन्न हुई हैं उसी प्रकार वीर्यान्तरायकर्मके नाशसे उत्पन्न जो वीर्यलब्धिरूप प्रयत्न है, वह भी मुक्तात्माके है ही ।
परन्तु मुक्तात्मा कृतार्थ है, इस कारण वह प्रयत्न उसको कहीं उपयोग (काम) में नहीं आता है । तथा पुण्य और पाप हैं दूसरे
पर्याय जिनके ऐसे जो धर्म और अधर्म है, उनका नाश तो मुक्तात्माके है ही है । क्योंकि उन धर्म अधर्मके नाशके विना जीवको
मोक्षकी प्राप्ति ही नहीं होती है । और जो संस्कार है, वह मतिज्ञानका ही भेद है और उस संस्कारका आत्माके जब मोहका नाश
हुआ उसी समय नाश हो चुका है, अतः मुक्तात्माके संस्कार भी नहीं है । सो इस पूर्वोक्तप्रकारसे 'मोक्ष ज्ञान तथा सुखरूप
नहीं है' ऐसा जो तुम्हारा कथन है, वह युक्ति रहित है अर्थात् ज्ञान–सुखरहित मोक्षको माननेमें कोई भी युक्ति तुम वैशेषि
कोंके पास नहीं है । इसप्रकार काव्यका अर्थ है ॥ ८ ॥

अथ ते वादिनः कायप्रमाणत्वमात्मनः स्वयं संवेद्यमानमप्यपलप्य तादृशकुशास्त्रशस्त्रसंपर्कविनष्टदृष्टयस्तस्य
विभुत्वं मन्यन्तेऽतस्तत्रोपालम्भमाह ।—

अब उसीप्रकारके कुशास्त्ररूपी शस्त्रके लग जानेसे नष्ट होगये है नेत्र जिनके ऐसे वे वैशिपिक आत्माकी स्वयं जाननेमें आती
हुई भी शरीरप्रमाणताको गुप्त करके आत्माको सर्वव्यापक मानते है भावार्थ—यद्यपि आत्मा शरीरप्रमाण है तथापि वैशेपिक उसको
सर्वव्यापक मानते हैं, इस कारण अग्रिम काव्यसे आत्माको सर्वव्यापक माननेमें उपालंभ देते हैं ।

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद्बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥

काव्यभावार्थ.—जैसे घटके रूप आदि गुण जहा हैं, वहा ही वह घट भी रहता है, उसी

प्रकार जिस पदार्थके गुण जिस स्थलमें देखे जाते हैं; वह पदार्थ उसी स्थलमें मिलता है। यह कथन बाधकरहित है। तथापि कुतत्त्ववादसे व्यामोहको प्राप्त हुए वैशेषिक आत्मानामक पदार्थको देहके बाहर भी रहनेवाला कहते हैं ॥ ९ ॥

यत्रैव देशे यः पदार्थो दृष्टगुणो दृष्टाः प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूता गुणा धर्म्मा यस्य स तथा स पदार्थस्तत्रैव विवक्षितदेश एवोपपद्यते (इति क्रियाध्याहारो गम्यः) (पूर्वस्यैवकारस्यावधारणार्थस्यात्राप्यभिसम्बन्धात्तत्रैव नान्यत्रेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः।) अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति। कुम्भादिवदिति घटादिवत्। यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते नान्यत्र। एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते न वहिः। तस्मात्तत्प्रमाण एवायमिति। यद्यपि पुष्पादीनामवस्थानदेशादन्यत्रापि गन्धादिगुण उपलभ्यते तथापि तेन न व्यभिचारः। तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलास्तेषां च वैश्रसिक्या प्रायोगिक्या वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणादिदेशं यावदागमनोपपत्तेरिति। अत एवाह निष्प्रतिपक्षमेतदिति। एतन्निष्प्रतिपक्षं बाधकरहितम्। न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात्।

व्याख्यार्थः—"यत्रैव" जिसी देशमें अर्थात् स्थानमें 'यः' जो पदार्थ 'दृष्टगुणः' देखे हैं अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अनुभवगोचर किये है गुण अर्थात् धर्म जिसके ऐसा है "सः" वह पदार्थ 'तत्रैव' उसी स्थानमें "उपपद्यते" प्राप्त होता है। भावार्थ—जहां जिसपदार्थके गुण देखनेमें आते हे; वहां ही वह पदार्थ रहता है। [यहां पर 'उपपद्यते' इस क्रियाका अध्याहार किया गया है अर्थात् उपपद्यते यह क्रिया ऊपरसे लाई गई है; ऐसा जानना चाहिये। और 'यत्रैव' यहां पर जो निश्चयरूप अर्थको कहनेवाला एवकार है; उसको 'तत्र' इसके आगे भी लगा देनेसे 'वह पदार्थ उसी स्थानमें है अन्य स्थानमें नही है, इस प्रकार अन्ययोगव्यवच्छेद होगया है] अब इसी ऊपर कहे हुए अर्थको दृष्टान्तद्वारा दृढ करते है। "कुम्भादिवत्" घट आदिके समान। भावार्थ—जैसे घटआदि पदार्थके रूप आदि गुण जिस स्थानमें देखे जाते है, उसी स्थानमें उस घटादिपदार्थकी विद्यमानता प्रतीत की जाती है, और उस स्थानसे भिन्न स्थानमें उन घटादिकी विद्यमानता नहीं जानी जाती

है। इसी प्रकारसे आत्माके जो ज्ञान आदि गुण हैं, वे शरीरमें ही देखे जाते हैं, शरीरके बाहर नहीं देखे जाते हैं, इसकारण आत्मा शरीरप्रमाण ही है अर्थात् जितना बड़ा उस आत्माका शरीर है, उतना बड़ा ही वह आत्मा है। यद्यपि पुष्प आदिकोंका गंध आदि गुण जहांपर पुष्पादि विद्यमान हैं, उस स्थानसे भिन्न दूसरे स्थानमें भी मिलता है, तथापि उस भिन्नस्थानमें गुणोंके मिलनेसे यहां पर व्यभिचार नहीं होता है। क्योंकि, उन पुष्पादिमें रहनेवाले गंधआदि गुणोंके पुद्गल स्वभावसे उत्पन्न हुई अथवा प्रयोगसे उत्पन्न हुई गतिसे गमनके धारक हैं अर्थात् वे गंधादि पुद्गल स्वभावसे अथवा वायु आदिके प्रयोग (प्रयत्न) से गमन करते हैं, इस कारण पुष्प आदिमें स्थित गंधादिपुद्गलोंका नासिकाइन्द्रिय आदि स्थानों तक आजाना सिद्ध है। इसी कारण आचार्यमहाराज कहते हैं कि,—"एतत्" जिसके गुण जहां मिलते हैं, वह वहां ही रहता है, यह जो हमारा कथन है, वह "निष्प्रतिपक्षम्" बाधक रहित है। क्योंकि, 'प्रत्यक्षसे देखे हुएमें असिद्धताकी संभावना नहीं है' ऐसा न्याय है।

भावार्थ—हमारा उक्त कथन प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है, अतः उसका कोई खंडन करनेवाला नहीं है।

ननु मन्त्रादीनां भिन्नदेशस्थानामप्याकर्षणोच्चाटनादिको गुणो योजनशतादपि परतोऽपि दृश्यत इत्यस्ति बाधकमिति चेत्। मैवं वोचः। स हि न खलु मन्त्रादीनां गुणः किन्तु तदधिष्ठातृदेवतानाम्। तासां चाकर्षणीयोच्चाटनीयादिदेशगमने कौतस्कुतोऽयमुपालम्भः। न जातु गुणा गुणिनमतिरिच्य वर्तन्त इति। अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते। तथापीत्यादि। तथाप्येवं निःसपत्ने व्यवस्थितेऽपि तत्त्वे अतत्त्ववादोपहता (अनाचार इत्यत्रेव नञः कुत्सार्थत्वात्) कुत्सिततत्त्ववादेन तदभिमताप्ताभासपुरुषविशेषप्रणीतेन तत्त्वाभासप्ररूपणेनोपहता व्यामोहिता देहाद्बहिः शरीरव्यतिरिक्तेऽपि देशे आत्मतत्त्वमात्मरूपं पठन्ति। शास्त्ररूपतया प्रणयन्ते। इत्यक्षरार्थः।

शंका—भिन्नदेशमें विद्यमान मंत्र आदिका सौ १०० योजन (चारसौ ४०० कोश) आदिसे भी दूर पर्यन्त आकर्षण, उच्चाटन आदिरूप गुण देखा जाता है। यही आपके कथनका बाधक है। भावार्थ—एक स्थानपर सिद्ध कियेहुए मंत्रका गुण, उस स्थानसे सौ योजनसे भी अधिक दूरपर रहनेवाले पुरुषका आकर्षण तथा उच्चाटन करता है, इस कारण मंत्रके स्थानसे भिन्न स्थानमें मिलनेवाला जो मंत्रका गुण है, वह आपके उक्त कथनका बाधक है। समाधान—ऐसा मत कहो। क्योंकि वह गुण, उन मंत्र आदिका नहीं है, किन्तु उन मंत्र आदिके अधिष्ठाता (स्वामी) जो देव हैं, उनका गुण है। और वे देव आकर्षण करने

योग्य तथा उच्चाटन करनेयोग्य स्थानोंमें स्वयं चले जाते हैं; इस कारण यह तुम्हारा उपालंभ कहांसे हो सकता है। **भावार्थ—** आकर्षण आदि गुण देवोंका है, अतः मंत्रके सिद्ध करनेसे उस मंत्रका स्वामी देव प्रसन्न होकर जिस स्थानमें स्थित पुरुषका आकर्षण करना है, उसी स्थानमें चला जाता है; इस कारण मंत्र आदिके गुणोंको भिन्न देशमें मिलते हुए बताकर जो तुम हमारे कथनमें दोष देते हो; वह दोष हमारे कथनमें नहीं होता है। इससे सिद्ध हुआ कि;–जो गुण हैं; वे गुणी (पदार्थ) को छोडकर कदाचित् भी नहीं रहते हैं। अब काव्यके तथापीत्यादि उत्तरार्धकी व्याख्या करते है। "**तथापि**" इस उक्त प्रकारसे बाधकरहित जैसे हो वैसे तत्त्वको स्थित होनेपर भी अर्थात् हमारा सिद्धान्त विना बाधकके सिद्ध होगया है तो भी "**अतत्त्ववादोपहताः**" निन्दित तत्त्ववादसे अर्थात् उनके अभीष्ट आप्ताभासरूप किसी पुरुषके द्वारा रचे हुए तत्त्वाभासोंके प्ररूपणसे व्यामोहको प्राप्त हुए वैशेपिक [जैसे 'अनाचार' यहांपर कुत्सित अर्थमें नञ् समास होता है; उसी प्रकार अतत्त्ववाद यहांपर भी कुत्सित अर्थमें नञ् समास किया गया है।] "**देहाद्बहिः**" शरीरसे भिन्न स्थानमें भी "**आत्मतत्त्वं**" आत्मापना "**पठन्ति**" पढते है अर्थात् शास्त्ररूपतासे कहते हैं। **भावार्थ—**हे भगवन् ? हमारा कथन निर्बाध है तो भी वैशेपिक मतवाले किसी अपने अभीष्ट आप्ताभाससे रचा हुआ जो अतत्त्ववाद है; उससे भ्रमको प्राप्त होकर आत्मा शरीरसे बाहर भी रहता है; ऐसा शास्त्रकी आज्ञारूप उपदेश देते हैं। इस प्रकार मूलके अक्षरोंका अर्थ है।

भावार्थस्त्वयम्। आत्मा सर्वगतो न भवति। सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेः। यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणः स स सर्वगतो न भवति। यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथा। व्यतिरेके व्योमादि। न चायमसिद्धो हेतुः। कायव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणानां बुद्ध्यादीनां वादिना प्रतिवादिना वाऽनभ्युपगमात्। तथा च भट्टः श्रीधरः "सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम्। नान्यत्र। शरीरस्योपभोगायतनत्वात्। अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति"।

भावार्थ तो यह है कि; आत्मा सर्वव्यापी नहीं है। क्योंकि; सर्व स्थानोंमें आत्माके गुणोंकी प्राप्ति नहीं होती है। जिस जिस पदार्थके गुण सब स्थानोंमें नहीं मिलते है; वह वह पदार्थ सर्वव्यापी नहीं होता है। जैसे कि;–घटके गुण सर्वत्र न मिलनेसे घट सर्वव्यापी नहीं है। उस घटके समान ही यह आत्मा है; इस कारण आत्मा सर्वव्यापी नहीं है। व्यतिरेकदृष्टान्तमें आकाश आदि हैं अर्थात् आकाश आदिके गुण सब स्थानोंमें प्राप्त होते है; अतः आकाश आदि पदार्थ सर्वव्यापी भी है। और हमने जो

यहापर यह आत्माके गुणोंकी प्राप्ति न होनेरूप हेतु दिया है, सो असिद्ध नहीं है। क्योंकि, वादी (वैशेषिक) तथा प्रतिवादी (जैनी) इन दोनोंने ही आत्माके बुद्धि आदि गुणोंको शरीरसे भिन्न स्थानमें नहीं माने हैं। सो ही श्रीधरभट्ट कहता है कि,- ' यद्यपि आत्मा सर्वव्यापी है, तथापि उस आत्माके ज्ञाता (जाननेवाला) पना अपने शरीरके प्रदेशोंमें ही है। दूसरे स्थानोंमें नहीं है। क्योंकि, शरीर जो है सो उपभोगका स्थान है। यदि शरीर उपभोगका स्थान न हो तो शरीर व्यर्थ हो जावे। भावार्थ—आत्माको जो शरीर मिला है, वह उपभोगके अर्थ है, इसकारण आत्मा शरीरमें रहकर ही पदार्थोंको जानता है। इस कथनसे श्रीधरभट्टने प्रकट किया है कि, आत्माके बुद्धि आदि गुण शरीरसे बाहर नहीं रहते हैं, इस कारण हमने जो हेतु दिया है, वह असिद्ध नहीं है।

अथास्त्यदृष्टमात्मनो विशेषगुणस्तच्च सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तं सर्वव्यापकं च। कथमितरथा द्वीपान्तरादिष्वपि प्रतिनियतदेशवर्त्तिपुरुषोपभोग्यानि कनकरत्नचन्दनाङ्गनादीनि तेनोत्पाद्यन्ते। गुणश्च गुणिनं विहाय न वर्तते। अतोऽनुमीयते सर्वगत आत्मेति। नैवम्। अदृष्टस्य सर्वगतत्वसाधने प्रमाणाऽभावात्। अथास्त्येव प्रमाणं वन्हेरूर्द्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनं चादृष्टकारितमिति चेत्–न तयोस्तत्स्वभावत्वादेव तत्सिद्धेर्दहनस्य दहनशक्तिवत्। साप्यदृष्टकारिता चेत्तर्हि जगत्त्रयवैचित्रीसूत्रणेऽपि तदेव सूत्रधारायतां किमीश्वरकल्पनया। तन्नायमसिद्धो हेतुः। न चानैकान्तिकः। साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणेन व्यभिचाराऽभावात्। नापि विरुद्धः। अत्यन्तं विपक्षव्यावृत्तत्वात्। आत्मगुणाश्च बुद्ध्यादयः शरीर एवोपलभ्यन्ते ततो गुणिनापि तत्रैव भाव्यम्। इति सिद्धः कायप्रमाण आत्मा।

शंका—आत्माके अदृष्टनामक एक विशेषगुण है [बुद्धि आदि नव विशेष गुणोंमें जो धर्म और अधर्म नामक गुण हैं, वे दोनों अदृष्ट कहलाते हैं] और वह अदृष्ट सब उत्पन्न होनेवालोंका निमित्त है अर्थात् जो संसारमें पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उन सबके उत्पन्न होनेमें अदृष्ट ही कारण है, तथा वह अदृष्ट सर्वव्यापक भी है। क्योंकि, यदि वह अदृष्ट सर्वव्यापक न होवे तो एक नियतस्थान (मुकर्रर जगह) में रहनेवाले पुरुषके भोगने योग्य जो सुवर्ण, रत्न, चन्दन, तथा स्त्री आदि पदार्थ हैं, उनको अन्य अन्य द्वीपोंमें भी कैसे उत्पन्न करता है। भावार्थ—एक स्थानमें रहनेवाले पुरुषके भोगनेके लिये जिस द्वीपमें वह पुरुष रहता है, उस द्वीपसे दूसरे द्वीपोंमें भी वह अदृष्ट सुवर्ण आदि पदार्थोंको उत्पन्न करता है, इससे जाना जाता है कि, अदृष्ट सर्वव्यापी

है। और जो गुण होता है, वह गुणी (अपने आधाररूप पदार्थ) को छोड़कर नहीं रहता है, इसकारण अनुमान किया जाता है कि; आत्मा सर्वव्यापक है अर्थात् आत्माके अदृष्टगुणको सर्वत्र देखनेसे अनुमान होता है कि; अदृष्टका धारक आत्मा सर्वव्यापक है। **समाधान**—ऐसा मत कहो। क्योंकि, आत्माका अदृष्टगुण सर्वगत है; इस मतको सिद्ध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि, अग्निका ऊंचा जलना अर्थात् अग्निकी शिखाका ऊचा जाना और वायुका तिर्यक् (तिरछा) गमन करना अदृष्टका किया हुआ है; यह प्रमाण है ही है। **भावार्थ**—अग्नि सर्वत्र अदृष्टके वलसे ऊर्द्ध्व गमन करता है और वायु भी सर्वत्र अदृष्टके वशसे तिरछा गमन करता है, अतः यह प्रमाण अदृष्टको सर्वगत सिद्ध करता है, सो यह भी ठीक नही है। क्योकि, जैसे अग्निमें दग्ध करने (जलाने) की शक्ति स्वभावसे है अर्थात् जैसे अग्निका दग्धकरना स्वभाव है, उसी प्रकार अग्निका ऊर्द्ध्वगमनरूप तथा वायुका तिर्यक्‌गमनरूप भी स्वभाव है। यदि कहो कि, अग्निमें जो दहनशक्ति (जलानेकी ताकत) है; वह भी अदृष्टकी कराई हुई है अर्थात् अदृष्टके वलसे ही अग्निमें दहनशक्ति उत्पन्न होती है तो तीनलोककी विचित्रताके रचनेमें भी वह अदृष्ट ही सूत्रधारकीसी तरह आचरण करै; ईश्वरकी कल्पनासे क्या है? **भावार्थ**—यदि तुम (वैशेपिक) पदार्थोंके स्वभावोंको भी अदृष्टसे उत्पन्न हुए मानते हो तो फिर ' तीन जगतकी विचित्राको रचनेवाला ईश्वर है ' यह तुम्हारी कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि अदृष्टसे ही तीनलोककी विचित्रता हो जावेगी। इसकारण यह हेतु असिद्ध नही है। **भावार्थ**—'आत्मा सर्वगत नही है; क्योंकि सर्वत्रानुपलभ्यमानगुण (सवस्थानोंमें नहीं मिलनेवाले गुणोका धारक) है।' इस अनुमानके प्रयोगमें जो सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणरूप हेतु दिया है, वह असिद्ध नही है। क्योंकि आत्माके गुण सव जगह नही मिलते है। और यह सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणरूप हेतु अनैकान्तिक भी नही है। क्योंकि, साध्यसाधनकी व्याप्तिका ग्रहण करनेसे व्यभिचार नही होता है। **भावार्थ**—असर्वगतरूप साध्य और सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणस्वरूप साधन (हेतु); इन दोनोंके ' जो जो सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणका धारक है; वह वह असर्वगत है इस प्रकारसे परस्पर व्याप्ति होती है। तथा विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि विपक्षसे अत्यंत व्यावृत्त है। **भावार्थ**—साध्य जो असर्वगत है; उसके अभावरूप सर्वगतपनेको धारण करने वाला जो कोई है, वह विपक्ष कहलाता है; उस विपक्षसें यह सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणरूप हेतु अत्यत व्यावृत्त (सर्वथा भिन्न) है; इस कारण यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है। और आत्माके बुद्धि आदि गुण है; वे शरीरमें ही मिलते है, इस कारण गुणी (आत्मा) को भी शरीरमें ही रहना चाहिये। इस प्रकार आत्मा शरीरप्रमाण है, यह सिद्ध हो गया।

अन्यच्च त्वयात्मनां वहुत्वमिष्यते " नानात्मानो व्यवस्थात[1] " इति वचनात्। ते च व्यापकास्तेषा प्रदीपप्रभामण्डलानामिव परस्परानुवेधे तदाश्रितशुभाशुभकर्मणामपि परस्पर सङ्कर स्यात्। तथा चैकस्य शुभकर्मणा अन्य सुखी भवेदितरस्याऽशुभकर्मणा चान्यो दु खीत्यसमञ्जसमापद्येत। अन्यच्चैकस्यैवात्मन स्वोपात्तशुभकर्मविपाकेन सुखित्व परोपार्जिताशुभकर्मविपाकसम्बन्धेन च दु खित्वमिति युगपत्सुखदु खसवेदनप्रसङ्ग। अथ स्वावष्टब्धभोगायतनमाश्रित्यैव शुभाशुभयोर्भोगस्तर्हि स्वोपार्जितमप्यदृष्ट कथ भोगायतनाद्बहिर्निष्क्रम्य वह्नेरूर्द्ध्वज्वलनादिक करोतीति चिन्त्यमेतत्।

तथा व्यवस्थासे अर्थात् आत्माके जन्म मरण आदिके भिन्न २ होनेसे आत्मा अनेक है, इस वचनसे तुमने वहुतसे आत्मा माने हैं। और वे आत्मा व्यापक (सर्वगत) है, अत जैसे प्रदीपोंकी प्रभाओंके समूह परस्पर (एक दूसरेमें) मिल जाते है, उसी प्रकार उन आत्माओंके भी परस्पर मिलजानेसे उन आत्माओंमें रहनेवाले जो शुभ तथा अशुभ कर्म हे, वे भी परस्पर मिल जावेंगे। और जब उन भिन्न २ आत्माओंके शुभ अशुभकर्माका परस्पर मेल हो जावेगा तब एकके शुभकर्मसे दूसरा सुखी हो जावेगा तथा दूसरेके अशुभ कर्मसे दूसरा दु खी हो जावेगा अर्थात् जिनदत्तकी आत्माके जो शुभकर्म हे, उनसे देवदत्तका आत्मा सुखी हो जावेगा और देवदत्तकी आत्माके अशुभ कर्मोंसे जिनदत्तका आत्मा दु खी हो जावेगा इस प्रकार असमजस अर्थात् अनुचित (घुटाला) हो जावेगा। और यही नहीं किंतु एक ही आत्मा अपनेसे उपार्जन किये हुए शुभकर्मके उदयसे सुखी और दूसरे आत्माके द्वारा उपार्जन किये हुए अशुभकर्मोंसे दु खी हो जावेगा, और इसप्रकार होनेसे एक आत्माके एक ही समयमें सुख तथा दु खका अनुभव होगा, जो कि, तुमको अनिष्ट हे। यदि कहो कि,—आत्मा अपनेसे अवष्टब्ध (ग्रहण किये हुए) भोगायतनको आश्रय करके ही शुभ—अशुभको भोगता हे अर्थात् जिस शरीरको आत्माने धारण कर रक्खा है, उस शरीरका अवलंबन करके ही आत्मा शुभ—अशुभ कर्मोंके सुख—दु खरूप फलोंको भोगता हे तो आत्माका स्वोपार्जित भी अदृष्ट भोगायतनसे बाहर निकलकर अग्निके ऊर्द्ध्वज्वलन आदिको कैसे करता है, यह विचारने योग्य हे भावार्थ—जब आत्मा अपने शरीरमें रह कर सुखदु ख भोगता हे, ऐसा तुम

---

1 जन्ममरणादे पार्थक्यात्।

मानत हो तो फिर यह कैसे कहते हो कि; आत्माका अदृष्ट शरीरसे बाहर निकलकर अग्निको ऊंचा जलाता है और वायुका तिरछा गमन कराता है, अतः तुमको इस अपने पूर्वापरविरुद्ध कथनपर विचार करना चाहिये।

आत्मनां च सर्वगतत्वे एकैकस्य सृष्टिकर्तृत्वप्रसङ्गः। सर्वगतत्वेनेश्वरान्तरनुप्रवेशस्य सम्भावनीयत्वात्। ईश्वरस्य वा तदन्तरनुप्रवेशे तस्याप्यकर्तृत्वापत्तिः। न हि क्षीरनीरयोरन्योऽन्यसंवन्धे एकतरस्य पानादिक्रिया अन्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम्। किञ्चात्मनः सर्वगतत्वे नरनारकादिपर्यायाणां युगपदनुभवानुषङ्गः। अथ भोगायतनाभ्युपगमान्नायं दोष इति चेन्ननु स भोगायतनं सर्वात्मना अवष्टभ्नीयादेकदेशेन वा। सर्वात्मना चेदस्मदभिमताङ्गीकारः। एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः परिपूर्णभोगाभावश्च।

और आत्माओंके सर्वगत होनेमें एक एक (हरएक) आत्माके सृष्टिकर्तृताका प्रसग होगा। क्योंकि, सर्वगतपनेसे आत्माओंका ईश्वरके भीतर भी प्रविष्ट हो जाना संभावित है। **भावार्थ**—सर्वगत आत्मा ईश्वरके भीतर भी प्रवेश कर सकते है; अतः ईश्वरका जो जगत्कर्तृत्व है; वह प्रत्येक आत्मामें आजानेसे हर एक आत्मा जगतका करनेवाला हो जावेगा; जो कि, तुमको अनिष्ट है। अथवा यदि ऐसा कहो कि; आत्मा ईश्वरमें प्रवेश नहीं करते है; किन्तु ईश्वर उन सव आत्माओंके भीतर प्रवेश करता है तो उस ईश्वरके अकर्तृता प्राप्त होगी। क्योकि दूध और जलके परस्पर संबंधमें किसी एककी पानादिक्रिया दूसरेकी नहीं होती है अर्थात् मिले हुए दूध तथा जलमेंसे कोई एक दूध अथवा जल पीने आदिमें आता है और दूसरा नहीं आता है; यह कहना ठीक नहीं है। **भावार्थ**—जैसे मिले हुए दूध और जलकी पानादिक्रिया एक ही होती है; उसीप्रकार व्यापकतासे परस्पर मिले हुए ईश्वर तथा आत्माओंकी क्रिया भी एक ही होगी अर्थात् ईश्वर जगत्को रचनेरूप क्रिया करेगा तो अन्य आत्मा भी जगतको रचेगे और जो अन्य आत्मा जगतको रचनेरूप क्रिया न करेंगे तो ईश्वर भी जगतको नहीं रचेगा। और भी विशेष यह है कि, यदि तुम आत्माको सर्वगत मानोंगे तो मनुष्यपर्याय, नारकपर्याय आदि जो पर्याय है, उनको एक ही समयमें अनुभव करनेका प्रसंग होगा अर्थात् आत्मा सर्वव्यापक होनेसे मनुष्यपर्याय आदि समस्त पर्यायोंका एक ही समयमें अनुभव करेगा। जोकि, तुम्हारे अनिष्ट है। अव यदि ऐसा कहो कि; हमने आत्माके भोगायतन को स्वीकार किया है; अर्थात् आत्मा शरीरमें रह कर ही भोग करता है; यह माना है; तो हम प्रश्न करते है कि; वह आत्मा भोगायतनको सर्वरूपसे धारण करता है; अथवा एक देशसे अर्थात्

आत्मा शरीरमें पूर्णरूपसे व्याप्त है, या अपने एक प्रदेशसे शरीरको व्याप्त कर रक्खा है? यदि उत्तरमें कहो कि, आत्मा भोगायतनको पूर्णरूपसे व्याप्त कर रक्खा है अर्थात् आत्मा शरीरमें पूर्णरूपसे विद्यमान है तब तो तुमने हमारे मतको स्वीकार किया अर्थात् हम (जैनी) भी यही मानते हैं कि, आत्मा शरीरमें पूर्णरूपसे रहता है, इस कारण कोई विवाद ही नहीं है। यदि कहो कि, आत्मा अपने किसी एक प्रदेशसेही शरीरको धारण कर रक्खा है, तो आत्माके सावयवपनेका प्रसग होगा। भावार्थ—जो प्रदेशो (हिस्सों) का धारक होता है, वह अवयवी होता है और आत्माको तुमने अवयवी माना नहीं है, इसकारण तुमको अनिष्टकी प्राप्ति होगी। और परिपूर्ण भोगका अभाव भी होता है। भावार्थ—यदि आत्मा एक प्रदेशसे शरीरको व्याप्त करके रहेगा तो जिस प्रदेशसे शरीरको धारण कर रक्खा है उसी प्रदेशमें सुख, दु ख आदिका भोग होगा अन्य प्रदेशोंमें नहीं, इसकारण समस्त प्रदेशोंमें भोग न होनेसे आत्माके परिपूर्णरूपसे भोगका भी अभाव होगा।

अथात्मनो व्यापकत्वाऽभावे दिग्देशान्तरवर्त्तिपरमाणुभिर्युगपत्सयोगाऽभावादाद्यकर्माऽभावस्तदभावादन्त्यसयोगस्य, तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्सवन्धस्य चाभावादनुपायसिद्ध सर्वदा सर्वेषा मोक्ष स्यात्। नैवम्। यद्येन सयुक्त तदेव त प्रत्युपसर्पतीति नियमाऽसम्भवात्। अयस्कान्त प्रत्ययसस्तेनासयुक्तस्याप्याकर्षणोपलब्धे। अथासयुक्तस्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भ प्रत्येकमुखीभूताना त्रिभुवनोदरविवरवर्त्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गान्न जाने तच्छरीर कियत्प्रमाण स्यादिति चेत् सयुक्तस्याप्याकर्षणे कथं स एव दोषो न भवेत्। आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणूना तेन संयोगात्। अथ तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद्विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति तदितरत्रापि तुल्यम्।

शका—यदि आत्मा व्यापक न होगा तो दिगन्तर (एक दिशासे दूसरी दिशा) में तथा देशान्तर (एक देशसे अर्थात् स्थानसे दूसरे देश) में रहनेवाले जो परमाणु है, उनके साथ आत्माका एक ही समयमें सयोग न होनेसे आद्यकर्मका अभाव होगा, उस आद्यकर्मका अभाव होनेसे अन्त्यसयोगका अभाव होगा, उस अन्त्यसयोगके अभावसे उस अन्त्यसयोगरूप निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शरीरका अभाव हो जावेगा। और शरीरका अभाव होनेसे उस शरीरका जो आत्माके साथ सबध है, उसका अभाव होगा, इसकारण सब जीवोके सदा विना उपायके सिद्ध हुआ अर्थात् किसी उपायको किये विना मोक्ष हो जावेगा।

भावार्थ—वैशेषिकोंके मतमें पहले किसी कारणसे अर्थात् अदृष्टविशिष्ट आत्माके संयोगसे परमाणुमें क्रिया उत्पन्न होती है; उस क्रियासे परमाणुका पूर्व आकाशप्रदेशसे विभाग (वियोग) होता है अर्थात् परमाणु एक आकाशप्रदेशको छोडकर गमन करता है, उस विभागके द्वारा परमाणुका उत्तर आकाशप्रदेशके साथ संयोग होता है अर्थात् परमाणु पूर्व आकाशप्रदेशसे गमन कर दूसरे आकाशप्रदेशमें ठहरता है, इस रीतिसे एक आकाशप्रदेशमें जब अन्य अन्य परमाणु इकट्ठे होते है, तब द्व्यणुक, त्र्यणुक आदिरूप कार्य होते है; ऐसा माना गया है। इस कारण यहां वैशेषिक शंका करते है कि– यदि आत्मा सर्वव्यापक न होगा तो उस आत्माका भिन्न स्थानमें स्थित परमाणुके साथ संयोग न होनेसे वह आत्मा परमाणुमें क्रिया उत्पन्न न कर सकेगा, जिससे आद्यकर्मका अभाव हो जावेगा। क्योंकि—क्रियाका न होना ही आद्यकर्मका अभाव है; उस आद्यकर्मके अभावसे अर्थात् परमाणुका क्रियासे पूर्व आकाशप्रदेशके साथ वियोग और उत्तर आकाशप्रदेशके साथ संयोग न होनेसे अन्त्य (आखिर) के संयोगका अर्थात् जिन द्व्यणुक त्र्यणुक आदि अवयवोंका संयोग होनेसे शरीररूप अवयवी पूर्ण होता है, उस अंत्यसंयोगका अभाव होगा और जब अन्त्यसंयोगका अभाव हो जावेगा तब उस अंत्यसंयोगसे होनेवाले शरीरका अभाव होगा। और शरीरका अभाव होनेके कारण शरीरका आत्माके साथ संबंध न रहेगा, जिससे आत्मा शरीर रहित हो जावेगा और शरीरकी रहितता ही मोक्ष है; इसकारण सब जीव सदा किसी विना उपाय किये ही मोक्षको प्राप्त हो जावेंगे। **समाधान**—ऐसा नही है। क्योंकि; जो जिससे संयुक्त होता है अर्थात् जिसका जिसके साथ संयोग होता है; वही उसके प्रति गमन करता है; यह नियम नहीं हो सकता है। कारण कि; लोह जो है; वह चुम्बकलोहसे असंयुक्त है तथापि उस लोहका चुम्बक आकर्षण कर लेता है, यह प्रत्यक्षमें देख पडता है। **भावार्थ**—जैसे चुम्बक अपने साथ संयोगको न धारण करनेवाले लोहेको अपनी ओर खेंच लेता है; उसीप्रकार आत्मा भी अपने साथ संयोगको न धारण करनेवाले दिशान्तर तथा देशान्तरमें विद्यमान परमाणुओंका अपने प्रति आकर्षण कर लेगा, इस कारण जो तुमने आत्माको व्यापक न माननेपर विना उपायके सब आत्माओंका मोक्ष हो जानेरूप दोष दिया है; वह नहीं हो सकता है। अब कहो कि; यदि आत्मा अपने साथ संयोगको न धारण करनेवाले परमाणुओंका आकर्षण करेगा तो उस आत्माके शरीरको आरंभकरनेके प्रति सन्मुख हुए ऐसे तीनलोकके उदर (वीच) में रहने वाले परमाणुओंके उपसर्पण (आजाने) का प्रसंग होनेसे न जाने आत्मा कितने प्रमाणका धारक हो जावेगा;

तो सयुक्त परमाणुओंका आकर्षण माननेमें भी यह दोष क्यों नहीं होता है। क्योंकि, आत्मा व्यापक है, इस कारण उस आत्माका समस्त परमाणुओंके साथ सयोग है। **भावार्थ—**वैशेषिक कहते है कि, यदि आत्मा असयुक्त परमाणुओंका आकर्षण करेगा तो उस आत्माके शरीरको रचनेके लिये तीनलोकके समस्त परमाणु आजावेंगे और ऐसा होगा तो न मालुम उस आत्माका शरीर कितना लम्बा, चोड़ा व मोटा हो जावेगा। क्योंकि, वह सपूर्णपरमाणुओसे रचा जावेगा। इस पर जैनी उत्तर देते हैं, कि—जो दोष तुम हमको देते हो, वही दोष आत्मा अपनेसे सयुक्त परमाणुओंका आकर्षण करता है, यह जो तुम्हारा पक्ष है, उसमें भी होता है। क्योंकि आत्मा व्यापक होनेसे सब परमाणुओंके साथ सयुक्त है, अत जब सयुक्त परमाणुओंका आकर्षण करेगा तब तीनलोकके समस्त परमाणु उसका शरीर रचनेके अर्थ आ जावेंगे। अब यदि यह कहो कि, असयुक्त तथा सयुक्त इन दोनो ही परमाणुओंका आकर्षण माननेमें कोई भेद नहीं है अर्थात् समान ही दोष है, तथापि अदृष्टके वशसे उस विवक्षित शरीरको उत्पन्न करनेके योग्य जो नियत (मुक़र्रर) परमाणु है, वे ही उस आत्माके प्रति आगमन करते है अर्थात् आत्मा तो सभी परमाणुओंका आकर्षण कर सकता है, परतु पुण्य–पापके बलसे जैसा शरीर उसको धारण करना है, वैसे शरीरको उत्पन्न करनेमें समर्थ जितने ही परमाणु आत्माके प्रति आते है, सबके सब परमाणु नहीं आते है। तो यह तुम्हारा कथन दूसरे पक्षमें अर्थात् असयुक्त परमाणुओंका आकर्षण करनेरूप हम जैनियोंके पक्षमें भी समान है। **भावार्थ—**जैसे तुम पुण्य–पापके वशसे नियत परमाणुओंका ही आत्माके प्रति आना मानते हो, उसी प्रकार हम भी पुण्य–पापके अनुसार नियतपरमाणु ही आत्माके प्रति शरीर रचनेको आते है, ऐसा मानते है, इसकारण तुम जो दोष दिखाते हो, वह हमारे मतमें नहीं हो सकता है।

अथास्तु यथाकथञ्चिच्छरीरोत्पत्तिस्तथापि सावयव शरीरम्। प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयव स्यात्। तथा चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्ग। कार्यत्वे चासौ विजातीयै सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत। न तावद्विजातीयैस्तेषामनारम्भकत्वात्। न हि तन्तवो घटमारभन्ते। न च सजातीयैर्यत आत्मत्वाभिसम्बन्धादेव तेषा कारणाना सजातीयत्वम्। पार्थिवादिपरमाणूना विजातीयत्वात्। तथा चात्मभिरात्मा आरभ्यत इत्यायातम्। तच्चाऽयुक्तम्। एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मारम्भकाणामसम्भवात्। सम्भवे वा प्रतिसन्धानाऽनुपपत्ति। न ह्यन्येन दृष्टमन्य प्रतिसन्धातुमर्हति। अतिप्रसङ्गात्। तदारभ्यत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात्सयोगविनाशाद्विनाश

स्यात्। तस्माद्व्यापक एवात्मा युज्यते कायप्रमाणतायामुक्तदोषसद्भावादिति चेत्— न । सावयवत्वकार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात्। तत्र सावयवत्वं तावदसंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्। तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ[1] "आकाशोऽपि सदेशः सकृत्सर्वमूर्त्ताभिसम्बधार्हत्वात्" इति । यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु[2] भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या । प्रदेशेष्वप्यवयवव्यवहारात्कार्यत्वं तु वक्ष्यामः ।

अब वैशेषिक कहते है कि, चाहे जिस प्रकारसे शरीरकी उत्पत्ति होवे भावार्थ—चाहे आत्मासे असंयुक्त परमाणुओंद्वारा शरीर उत्पन्न होवे, चाहे आत्मासे संयुक्त परमाणुओं द्वारा शरीर उत्पन्न होवे; इसमें हमको कोई विवाद नहीं है, तथापि शरीर अवयवों सहित है । इस कारण शरीरके प्रत्येक अवयवमें प्रवेश करता हुआ आत्मा भी अवयवों सहित हो जावेगा। और यदि आत्मा अवयव सहित हो जावेगा तो पट आदिके समान आत्माके कार्यत्वका प्रसग होगा भावार्थ—जैसे पट आदि पदार्थ सावयव होनेसे कार्यरूप है; उसी प्रकार आत्मा भी सावयव होनेसे कार्य हो जावेगा और आत्माका कार्यरूप हो जाना आप (जैनियो) को अनिष्ट है । क्योंकि, कार्य अनित्य होता है और आपने आत्माको नित्य माना है । और यदि आत्माको कार्यरूप मानों तौ भी हम (वैशेषिक) प्रश्न करते है कि; वह आत्मा विजातीय कारणोंसे आरभित होता है ? वा सजातीय कारणोंसे ? भावार्थ—जो कार्य होता है; उसका आरंभ (उत्पत्ति) कारणोंसे होता है; अतः हम प्रश्न करते हैं कि, वह आत्मारूप कार्य विजातीयकारणोंसे उत्पन्न किया जाता है, अथवा सजातीय कारणोंसे उत्पन्न किया जाता है । यदि कहो कि;—विजातीय (अपनीजातिसे भिन्न जातिके धारक) कारणोंसे आरभित होता है; सो नहीं । क्योंकि; ततु घटका आरंभ नहीं करते है अर्थात् जैसे विजातीय तंतुओंसे घटरूपकार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उसी प्रकार विजातीय कारणोंसे आत्मा भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि कहो कि, सजातीय कारणोंसे आत्मा उत्पन्न किया जाता है; तो यह भी नहीं कह सकते हो । क्योंकि पार्थिव आदि परमाणु विजातीय है, इस कारण आत्मत्वके संबधसे ही उन कारणोंमें सजातीयता होवे अर्थात् जिन कारणोंमें आत्माका संबंध होवे वे ही कारण आत्माके सजातीय होवें । और उन सजातीय कारणोंसे यदि आत्मा उत्पन्न किया जावे तो आत्माओं द्वारा आत्मा उत्पन्न किया जाता है; यह सिद्धान्त आ खड़ा रहे। और आत्माओंद्वारा आत्मा उत्पन्न किया जाता है, यह मानना ठीक नहीं है ।

१ हेमचन्द्रगुणचन्द्रौ । २ गन्धहस्तिनाम तत्त्वार्थसूत्रोपरि दिगम्बराचार्यश्रीसमन्तभद्रस्वामिनिर्मितं चतुरशीतिसहस्रश्लोकसंख्यात्मकं महाभाष्यम् । तदादिजैनशास्त्रेषु ।

क्योंकि, एक शरीरमें आत्माका आरंभ करनेवाले बहुतसे आत्मा नहीं हो सकते हैं अर्थात् बहुतसे आत्मा एक आत्माको नहीं बना सकते हैं। अथवा यदि एक आत्माको उत्पन्न करनेवाले बहुतसे आत्मा होसकें तो भी प्रतिसंधान (स्मरण) की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि, अतिप्रसंग होनेसे अन्य आत्मासे देखे हुएका दूसरा आत्मा स्मरण करनेको समर्थ नहीं है। भावार्थ—जब बहुतसे आत्मारूप कारण एक आत्माको उत्पन्न करने लगेंगे तब एक आत्मारूप कारणने जो देखा है, उसका दूसरा आत्मारूप कारण स्मरण नहीं कर सकेगा, और ऐसा होगा तब आत्मारूप कार्यकी सिद्धि न होगी। और यदि उन आत्मारूप सजातीयकारणोंसे आत्मानामक कार्य उत्पन्न किये जाने योग्य होगा तो घटके समान उस आत्माका भी अवयवक्रियासे विभाग होनेके कारण संयोगका विनाश हो जानेसे विनाश हो जावेगा भावार्थ—जैसे घटरूपकार्यका अवयवक्रियासे विभाग होता है और विभागके होनेसे पूर्वसंयोगका (कपालद्वयसंयोग) का नाश होता है, जिससे घटका भी नाश हो जाता है, इसी प्रकार आत्मारूप कार्यका भी अवयवक्रियासे विभाग और विभागसे संयोगका नाश होनेपर नाश हो जावेगा, और आप (जैनियों) ने आत्माको नित्य माना है, अतः आत्माका नष्ट होना आपको इष्ट नहीं है। इसकारण आप (जैनियों)को आत्मा व्यापक ही है, ऐसा मानना ठीक है। क्योंकि शरीरपरिमाण (जितना बड़ा शरीर हो उतना ही बड़ा) आत्मा माननेमें ऊपर कहे हुए अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। सो ठीक नहीं है अर्थात् तुम (वैशेषिकों) ने जो 'आत्माको व्यापक न मानोगे तो आत्मा अवयवोंका धारक तथा कार्यरूप हो जानेसे अनित्य हो जावेगा' यह दोष दिया है, वह दोष हमारे दोषरूप नहीं है। क्योंकि हम (जैनियों) ने किसी अपेक्षासे आत्मामें अवयवसहितपना तथा कार्यपना स्वीकार किया है। उनमें आत्मा असंख्यात प्रदेशोंवाला है, इस कारणसे तो आत्मामें अवयवसहितपना है। सो ही द्रव्यालंकारनामक ग्रन्थके रचनेवाले कहते हैं कि, "आकाश भी प्रदेशोंका धारक है, क्योंकि, एक ही समयमें समस्त मूर्त पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेयोग्य है अर्थात् आकाशमें एक ही समयमें सब मूर्तपदार्थ विद्यमान रहते हैं, अतः आकाश प्रदेशोंका धारक है।" भावार्थ—उक्त प्रमाणसे जैसे हम आकाशको नित्य मानकर भी प्रदेशोंका धारक मानते हैं, उसी प्रकार आत्माको भी नित्य मानकर किसी अपेक्षासे अवयवसहित मानते हैं। [यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बराचार्य श्रीसमन्तभद्रस्वामीविरचित जो ८४००० श्लोकपरिमाण गंधहस्तिनामक महाभाष्य है, उसको आदि ले कितने ही शास्त्रोंमें अवयव तथा प्रदे-

शमें भेद माना गया है, तथापि यहांपर इस सूक्ष्मताका विचार न करना चाहिये] और प्रदेशोंमें भी अवयवका व्यवहार होनेसे प्रदेशोंके कार्यता है अर्थात् प्रदेशोंको अवयवरूप माननेसे प्रदेश कार्य है, इस विषयको तो आगें कहेंगे।

नन्वात्मनां कार्यत्वे घटादिवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः। अवयवा ह्यवयविनमारभन्ते यथा तन्तवः पटमिति चेत् न वाच्यम्। न खलु घटादावपि कार्ये प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम्। कुम्भकारादिव्यापारान्वितान्मृत्पिण्डात्प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्यास्योत्पत्तिप्रतीतेः। द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वं तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव। ततश्चात्मापि स्यात्कार्यः। न च पटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः। काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद्वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात्। प्रमाणबाधनमुभयत्र तुल्यम्। न चोक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात्प्रतिसन्धानाऽभावोऽनुपज्यते। कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात्। प्रतिसन्धानं हि यमहमद्राक्षं तमहं स्मरामीत्यादिरूपम्। तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते। अवस्थाभेदात्। अन्या ह्यनुभवावस्था अन्या च स्मरणावस्था। अवस्थाभेदे चावस्थावतोऽपि भेदादेकरूपत्वक्षतेः कथञ्चिदनित्यत्वं युक्त्यायातं केन वार्यताम्।

शंका—यदि आत्मा कार्य होवेंगे तो उन कार्यरूप आत्माओंके घट आदिकी तरँह पूर्वप्रसिद्ध समानजातीय अवयवोंसे उत्पन्न होनेकी योग्यताका प्रसंग होगा। क्योंकि; अवयव अवयवीको उत्पन्न करते है। जैसे कि–तंतुरूप अवयव पटरूप अवयवीको उत्पन्न करते है। **भावार्थ**—जो कार्य होता है; वह अवयवी होता है और अवयवीको उत्पन्न करनेवाले अवयव है; अतः जैसे घटरूप अनयवी अपनेसे पहले विद्यमानतासे प्रसिद्ध जो समानजातीय अर्थात् अपनी पार्थिवत्व जातिको ही धारण करनेवाले दो कपालरूप अवयव है, उनसे उत्पन्न होता है; उसी प्रकार आत्मा भी पूर्वप्रसिद्ध समानजातीय (अपनी आत्मत्वजातिके धारक) अवयवोंसे उत्पन्न होवेंगे और ऐसा होना आपको इष्ट नहीं है। **समाधान**—ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि, घट आदि कार्यमें भी पूर्वप्रसिद्ध जो समानजातिके धारक दो कपालरूप अवयव है, उनके संयोगसे उत्पन्न होनेकी योग्यता नहीं देखते है। कारण कि–कुंभकार आदिके व्यापारसे सहित जो मृत्तिकाका पिंड है; उसके द्वारा दो कपालोंके उत्पन्न होनेके पहले ही पृथु तथा बुध्न ऐसे उदरके जैसे आकारको धारण करनेवाले इस घटकी उत्पत्ति प्रतीत होती है। **भावार्थ**—तुम जो पूर्वप्रसिद्ध समानजातीय कपाल-

द्व्यसंयोगसे घटकी उत्पत्ति मानते हो सो प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है। क्योंकि, जब मृत्तिकाके पिण्डके प्रति कुंभकार तथा चाक आदि अपना २ व्यापार (क्रिया) करते हैं, तब उस मृत्तिकाके पिंडसे दो कपालोंकी उत्पत्ति होनेके पहले ही अर्थात् कपालोंके बने विना ही पृथुबुध्नोदरादि आकारका धारक घट बन जाता है, यह सबको प्रत्यक्षसे प्रतीति होती है। और पूर्व (पहले) के आकारका त्याग करके जो उत्तर (आगे) के आकाररूप परिणामका हो जाना है, वही द्रव्यके कार्यत्व है अर्थात् पूर्व आकारको छोड़कर उत्तर आकारको धारण करनेसे ही द्रव्य कार्यरूप है। और उस कार्यपनेका बाह्यके समान अंतरंगमें भी अनुभव किया ही जाता है अर्थात् जैसे बाह्यमें कटकआदि आकारोंको छोडकर कुंडल आदि आकारोंरूप होनेवाले सुवर्ण आदि द्रव्योंमें कार्यरूपता देखते हैं, उसी प्रकार पूर्व आकारको छोडकर उत्तर आकारको धारण करते हुए आत्माओंमें भी कार्यरूपताका अनुभव होता ही है। इसकारण आत्मा भी कथंचित् कार्यरूप है। और पट आदिमें अपने अवयवोंके संयोगपूर्वक कार्यत्व देखकर सब द्रव्योंमें वैसा मानना ठीक नहीं है अर्थात् तंतुआदिरूप अवयवोंके संयोगसे पट आदि कार्य होते हैं, यह देख कर घटआदि कार्य भी अवयवोंके संयोगपूर्वक होते हैं, ऐसा मान लेना उचित नहीं है। क्योंकि, यदि ऐसा मानोगे तो काष्ठ (लकड़ी) में लोहसे खुदनेकी योग्यता देखकर वज्र (हीरे) में भी वैसा होना (लोहसे खुदनेकी योग्यताका होना) स्वीकार करना पड़ेगा, जो कि, तुमको अनिष्ट है। और प्रमाणसे बाधा दोनों स्थानोंमें ही समान है। भावार्थ—यदि तुम कहो कि–वज्र लोहसे नहीं खुदता है, यह प्रत्यक्षमें देखते हैं। इस कारण वज्रमें लोहसे खुदनेकी योग्यता कैसे मान सकते हैं। क्योंकि, प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधा आती है, तो कपालके संयोगसे घटका उत्पन्न होना भी प्रत्यक्षसे विरुद्ध है, इस कारण कार्य अपने समानजातीय अवयवोंसे उत्पन्न होता है, इस नियमका घटरूप कार्यमें व्यभिचार होता है, अतः उक्तनियमसे आत्माके समानजातीय अवयवोंसे उत्पन्न होनेकी योग्यता बताकर जो तुमने हमारे मतमें अनिष्टकी आपत्तिरूप दोष दिया है, वह नहीं हो सकता है। और आत्मामें पूर्व आकारके त्यागसे उत्तर आकारके स्वीकाररूप कार्यत्वके मानने पर भी जो आत्माके अनित्यताका अनुषंग (प्राप्ति) होता है, उससे प्रतिसंधानके अभावका अनुषंग नहीं होता है अर्थात् आत्माके अनित्य होनेपर प्रतिसंधान न होगा ऐसा नहीं है। क्योंकि, आत्माके कथंचित् अनित्यता होने पर ही यह प्रतिसंधान सिद्ध हो सकता है। कारण कि—प्रतिसंधान 'जिसको मैंने देखा है, उसको मैं स्मरण (याद) करता हूं' इत्यादि रूपका धारक है। और यह रूप आत्माके सर्वथा नित्यपनेमें कैसे सिद्ध होवे ? । क्योंकि, अवस्थाका

भेद है । भावार्थ—अनुभव स्मरणके पहले होता है; इस कारण अनुभवकी अवस्था दूसरी है और स्मरण अनुभवके पीछे होता है, अतः स्मरणकी अवस्था दूसरी है । और अवस्थाका भेद होनेसे अवस्थाओंके धारक आत्माका भी भेद हुआ, जिससे आत्माके एकरूपताका नाश हुआ इस कारण आत्माके कथंचित् अनित्यपना जो युक्तिसे आता है; उसको तुम किससे दूर कर सकते हो अर्थात् आत्माके कथंचित् अनित्यत्वका खंडन तुम नहीं कर सकते हो ।

अथात्मनः शरीरपरिमाणत्वे मूर्तत्वानुषङ्गाच्छरीरेऽनुप्रवेशो न स्यान्मूर्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात् ततो निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नोतीति चेत् किमिदं मूर्तत्वं नाम । असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं रूपादिमत्त्वं वा । तत्र नाद्यः पक्षो दोषाय । संमतत्वात् । द्वितीयस्त्वयुक्तः । नहि यदसर्वगतं तन्नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति । मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि भवन्मते तदसंभवात् । आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं चेत्युक्तत्वान्मनसो वैधर्म्यात्सर्वगतत्वप्रतिषेधनात् । अतो नात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिर्येन निरात्मकं तत्स्यात् । असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वस्य मनोवत्प्रवेशाऽप्रतिबन्धकत्वात् । रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्वालुकादावनुप्रवेशो न निषिध्यते । आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम् ।

यदि कहो कि, आत्माको शरीरपरिमाण मानने पर आत्मा मूर्त्त हो जावेगा; इस कारण उस आत्माका शरीरमें प्रवेश न होगा । क्योंकि; मूर्त्तमें मूर्त्तके प्रवेशका विरोध है अर्थात् मूर्त्त शरीरमें मूर्त्त आत्माका प्रवेश होना विरुद्ध है । और जब मूर्त्त शरीरमें मूर्त्त आत्माका प्रवेश न होगा तो संसारके यावन्मात्र (सबके सब) शरीर आत्मासे शून्य (रहित) ही हो जावेंगे । तो हम (जैनी) प्रश्न करते है कि, यह मूर्त्तपना क्या है ? अर्थात् तुम (वैशेषिकों) ने मूर्त्तका क्या लक्षण माना है । असर्वगत द्रव्यपरिमाणपना जो है; वह मूर्त्त है, अथवा जो रूपादिमान् (रूप आदिका धारक) पना है; वह मूर्त्त है । भावार्थ—असर्वगत (अव्यापक) द्रव्यका जो अल्पपरिमाण है; उस अल्पपरिमाणके धारक द्रव्यको मूर्त्त कहते हो, अथवा रूप आदिको

१ सर्वैर्मूर्त्तैः सह संयोगः । न तु सर्वज्ञ । तेषां निःक्रियत्वात् । २ इयत्ताऽनवच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं परममहत्त्वम् । ३ सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं—सर्वेषांमूर्त्तद्रव्याणाम् । आकाश समानो देश एक आधार इत्यर्थः । एवं दिगादिष्वपि व्याख्येयम् । यद्यपि आकाशादिक सर्वसंयोगिनामाधारो न भवति । इहप्रत्ययविषयत्वेनावस्थानात् । तथापि सर्वसंयोगिसंयोगाधारभूतत्वादुपचारेण सर्वसंयोगिनामप्याधार उच्यते ।

धारण करनेवाले द्रव्यको मूर्त्त कहते हो। यदि कहो कि, असर्वगतद्रव्यपरिमाणताको ही हम मूर्त्त कहते है, तो यह प्रथमपक्ष तो हमारे दोपके लिये नहीं हे । क्योंकि समत हे अर्थात् असर्वगत द्रव्यपरिमाणको ही तुम मूर्त्त कहते हो तो कहो, इससे हमारे सिद्धान्तमें कोई दोप नहीं हे। यदि कहो कि, रूप आदिका धारक जो द्रव्य हे, वह मूर्त्त हे तो यह तुम्हारा कहना ठीक नही हे क्योंकि जो असर्वगत हे वह रूपादिमान हे, ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती है। भावार्थ—नन तुम पहले असर्वगत द्रव्यको रूपादिमान सिद्ध करलो तब पश्चात् यह कह सकते हो कि, असर्वगत आत्मा रूपादिमान हे, अत मूर्त्त हे, अन्यथा नहीं। ओर जो २ असर्वगत द्रव्य है, वह वह नियमसे रूपादिमान हे, ऐसी व्याप्ति तुम नही कर सकते हो॥ क्योंकि–तुम्हारे मतमें मन असर्वगत है तोभी रूपादिमान नहीं हे। कारण कि, आकाश, काल, दिशा ओर आत्मा ये चारों सर्वगत (सब मूर्त्तद्रव्योंके सयोगके धारक) है, परममहत्परिमाणके धारक है ओर जो समस्त मूर्त्तद्रव्यरूप सयोगी ह, उनके सयोगके आधारभूत है, अर्थात् सब मूर्त्तद्रव्योंका परस्पर सयोग इनमें होता हे, ऐसा कहा हे, ओर इस कथनसे मनमें इन आकाश आदिका धर्म न होनेसे सर्वगतपनेका निषेध किया गया हे अर्थात् आकाश, काल, दिशा ओर आत्मा ये चार ही सर्वगत हे, ऐसा कहकर मनको असर्वगत सिद्ध किया हे। इस कारण आत्माका शरीरमें प्रवेश होना असिद्ध नही हे, जिससे कि समस्त शरीर आत्मारहित हो जावें क्योंकि, मनके समान असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वरूप लक्षणका धारक जो मूर्त्त हे, उसके प्रवेशमें कोई प्रतिबन्धक नहीं है। भावार्थ—जैसे तुम्हारे मतमें मूर्त्त मनका मूर्त्त शरीरमें प्रवेश होता हे, उसी प्रकार हमारे मूर्त्त आत्माका भी मूर्त्त शरीरमें प्रवेश हो जावेगा, इस कारण मूर्त्त आत्माका मूर्त्त शरीरमें प्रवेश न दिखलाकर जो तुम हमारे पक्षमें निरात्मक शरीर होजानेरूप दोप देते हो, वह नहीं हो सकता हे। ओर रूपादिमान लक्षणरूपमूर्त्तताको धारण करनेवाले अर्थात् रूप आदिके धारक जो जल आदि है, उनका मूर्त्त मृत्तिका आदिमें जो प्रवेश होता है, उसका तो तुम निषेध नहीं करते हो और रूप आदिसे रहित ऐसा भी जो आत्मा हे, उसके मूर्त्तशरीरमें प्रवेशको मना करते हो यह बडा आश्चर्य हे।

अथात्मन कायपरिमाणत्वे बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकार कथ स्यात्। कि तत्परिमाणपरित्यागात्तदपरित्यागाद्वा। परित्यागाच्चेत्तदा शरीरवत्तस्याऽनित्यत्वप्रसङ्गात्परलोकाद्यभावानुपङ्ग । अथाऽपरित्यागात्। तन्न। पूर्वपरिमाणाऽपरित्यागे शरीरवत्तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्ते । तदयुक्तम्। युवशरीरपरिमा-

णावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशाऽसम्भवात्। विफणावस्थोत्पादे सर्पवत्। इति कथं परलोकाभावोऽनुपज्यते। पर्यायतस्तस्याऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात्।

शंका—यदि आत्मा शरीरपरिमाण होगा तो जो आत्मा बालशरीरपरिमाण (बालकके शरीर जितना बड़ा) है; वह युवशरीरपरिमाण (युवा अर्थात् जवान पुरुषके शरीर जितने बड़े आकार) को कैसे ग्रहण करेगा ? क्या ? उस बालशरीरपरिमाणको छोड़कर युवशरीरपरिमाणको ग्रहण करेगा अथवा उस बालशरीरके आकारका त्याग न करके युवशरीरपरिमाणको स्वीकार करेगा। भावार्थ—जो आत्मा देवदत्तकी बालअवस्थाके छोटे शरीर जितना है; वही आत्मा जब देवदत्त जवान होगा तब उसके बड़े शरीर जितना पूर्वपरिमाणको छोड़कर होगा ? वा विना छोड़े ही ? यदि कहो कि; आत्मा बालशरीरपरिमाणका त्याग करके युवशरीरपरिमाणको ग्रहण करता है; तब तो शरीरके समान आत्मा भी अनित्य हो जावेगा। यह प्रसंग होगा। जिससे परलोक आदिके अभावका अनुषंग होगा। भावार्थ—जैसे पूर्वपरिमाणको छोड़कर उत्तर परिमाणका स्वीकार करनेसे शरीर अनित्य है; उसी प्रकार आत्मा भी पूर्वपरिमाणका त्यागकरके उत्तर परिमाणको ग्रहण करनेसे अनित्य हो जावेगा और यदि आत्मा अनित्य हो जावेगा तो फिर आत्माके परलोक (अन्य २ जन्मोका धारण करना) आदि नहीं होगा, जोकि, आपको अनिष्ट है। यदि कहो कि; आत्मा बालशरीरपरिमाणका त्याग न करके युवशरीर परिमाणको ग्रहण करता है; तो सो नहीं। क्योंकि; जैसे शरीरके पूर्वपरिमाणका त्याग किये विना उत्तर परिमाणकी उत्पत्ति की सिद्धि नहीं है, उसी प्रकार उस आत्माके भी पूर्व परिमाणको छोड़े विना उत्तर परिमाणका उत्पन्न होना सिद्ध नहीं हो सकता है। समाधान—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि; आत्मा जो युवशरीरपरिमाणको ग्रहण करते समय बालशरीरपरिमाणका त्याग करता है, उस बालशरीरपरिमाणके त्यागमें आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता है जैसे कि–फणरहित अवस्थाके उत्पन्न होनेमें सर्पका नाश नहीं होता है। भावार्थ—जो सर्प फणको फैला करके बैठा है, वही सर्प जब फणको संकोचता है; तब यद्यपि वह सर्प पहली फणसहितअवस्थाका त्यागकरके पिछली फणरहितअवस्थाको ग्रहण करता है; तथापि उस सर्पका सर्वथा नाश नहीं होता है, इसी प्रकार यद्यपि आत्मा पूर्व बालशरीरपरिमाणरूप अवस्थाको छोड़कर उत्तर युवशरीरपरिमाणरूप अवस्थाको स्वीकार करता है; तथापि आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता है; किंतु किसी अपेक्षासे विनाश होता है। इस कारण परलोकका अभावरूप प्रसंग कैसे होता है अर्थात् जो तुमने पूर्वपरिमाणका त्याग किये

विना उत्तर परिमाणके स्वीकारमें आत्माके परलोकादिका अभाव हो जावेगा यह दोष दिया है, वह नहीं हो सकता है । क्योंकि, आत्मा यद्यपि पर्यायरूपसे अनित्य है, तथापि द्रव्यरूपसे नित्य है ॥

अथात्मन कायपरिमाणत्वे तत्खण्डने खण्डनप्रसङ्ग इतिचेत्—क किमाह । शरीरस्य खण्डने कथञ्चित्तत्खण्डनस्येष्टत्वात् । शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशाना खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मन खण्डनम् । तच्चात्र निषत एव । अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात् । न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्ग । तत्रैवानुप्रवेशात् । न चैकत्र सन्तानेऽनेके आत्मान । अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाभावप्रसगात् । शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसवित्तिवत् ।

यदि कहो कि, आत्मा शरीर परिमाण होगा तो जब शरीरका खडन होगा तब आत्माके भी खडनका प्रसग होगा अर्थात् शरीरके टुकड़े किये जाने पर आत्माके भी टुकडे होवेंगे तो कोन क्या कहता है । क्योंकि, शरीरका खडन होनेपर किसी अपेक्षासे आत्माका खडन भी इष्ट ही हे । कारण कि, शरीरसे सबधको प्राप्त हुए जो आत्माके प्रदेश है, उनमेंसे कितने ही आत्माके प्रदेशोंके खडित (कटे हुए) शरीरमें रहनेसे आत्माका खडन होता है । और वह खडन आत्मामें है ही । क्योंकि, यदि ऐसा खडन आत्मामें न होवे तो शरीरसे भिन्न (जुदे) हुए अवयव (हिस्से) में कप की प्राप्ति न होवे भावार्थ—पूर्णशरीरसे जो शरीरका अवयव कट कर अलग होता है, वह थोडी देरतक कापा करता है अर्थात् हिलता हे व उछलता हे, ऐसा प्रत्यक्षमें देखते है, अत प्रतीत होता हे कि, शरीरसे सबधित आत्माके प्रदेश खडित शरीरमें भी कुछ देरतक रहते है, और ऐसा हुआ तो आत्माका भी खडन हो ही गया और यह खडन कथचित् हमको इष्ट ही है । इसकारण तुम जो दोप देते हो, वह नहीं हो सकता है । यदि कहो कि, ऐसा है तो शरीरके खडित अवयवमें विद्यमान जो आत्माके प्रदेश हैं, उनके भिन्न आत्मापनेका प्रसग होगा अर्थात् शरीरके कटे हुए भागमें आत्माके प्रदेशोंका रहना मानोंगे तो उस भागमें जुदा आत्मा सिद्ध हो जायगा जोकि, तुमको अनिष्ट हे । सो यह न कहना चाहिये । क्योंकि, उस खडित अवयवमें रहनेवाले जो आत्माके प्रदेश है, उनका उस शरीरमें ही प्रवेश हो जाता हे, अर्थात् आत्माके प्रदेश शरीरके खडित भागमें थोडी देर तक रहकर फिर उस पूर्वशरीरमें ही प्रवेश कर जाते है । और एक सतान (शरीर) में अनेक आत्मा नहीं है । भावार्थ—यदि तुम यहा पर यह कहो कि,—शरीरके

खंडित अवयवमें विद्यमान आत्मप्रदेशोंका शरीरस्थ आत्मप्रदेशोंमें प्रवेश न मानना चाहिये. किन्तु उस खंडित अवयवमें दूसरा ही आत्मा मान लेना चाहिये । तो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि यदि एक शरीरमें अनेक आत्मा मानेंगे तो अनेक रूप रस आदि पदार्थोंका प्रतिभास (निश्चय) करानेवाले जो नेत्रइंद्रिय आदिसे उत्पन्न ज्ञान हैः उनके एक प्रमाता (ज्ञाता आत्मा) की आधारतासे प्रतिभास (अनुव्यवसाय) न होनेका प्रसग होगा । जैसे कि,—दूसरे शरीरोंमें विद्यमान अनेकज्ञानोंसे जाननेयोग्य जो रूप आदि पदार्थ है, उनके ज्ञानका एक आत्मामें प्रतिभास नहीं होता है । भावार्थ—जैसे देवदत्तकी आत्माका ज्ञान जिस रूप आदि पदार्थको देखता है, उसका 'मै देखता हू अत. ज्ञानवान हू' इस प्रकारका अनुव्यवसाय देवदत्तके आत्माको ही होता है । जिनदत्तके आत्मा को नहीं होता है । उसी प्रकार एक शरीरमें अनेक आत्मा माननेपर शरीरके नेत्ररूप अवयवमें स्थित आत्मा जिस रूपको देखेगा; उसका अनुव्यवसाय उस जिनदत्तके नेत्रस्थ आत्माको ही होगा और उस जिनदत्तके कर्णरूप शरीरावयवमें जो आत्मा स्थित है, उसके 'मै देखता हूं' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होगा । और ऐसा होगा तो प्रत्येक आत्माके जो 'मै देखता हू. मै सुनता हू, मै सूंघता हू, इत्यादिरूप से एक प्रमाता (जाननेवाले) को अवलंबन करके प्रतिभास होता है; वह न होगा । और इस एक प्रमाताके आधाररूपसे प्रतिभासका न होना तुमको अनिष्ट है ।

कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चादिति चेत् एकान्तेन छेदाऽनभ्युपगमात् । पद्मनालतन्तुवच्छेदस्यापि स्वीकारात् । तथाभूतादृष्टवशात्तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवात्माङ्गीकर्त्तव्यो न व्यापकः । तथा च आत्मा व्यापको न भवति चेतनत्वात् । यत्तु व्यापकं न तच्चेतनम् । यथा व्योम । चेतनश्चात्मा । तस्मान्न व्यापकः । अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता । यत्पुनरष्टसमयसाध्यकेवलिसमुद्घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वम् । तत्कादाचित्कम् । इति न तेन व्यभिचारः । स्याद्वादमन्त्रकवचावगुण्ठितानां च नेदृशविभीषिकाभ्यो भयम् । इति काव्यार्थः ॥ ९ ॥

यदि कहो कि; आत्माके खंडित अवयवों (प्रदेशों) का पीछे मेल कैसे हो जाता है अर्थात् जो आत्माके प्रदेश कट कर शरीरके खंडित अवयवोंमें चले गये हैं; वे और जो आत्माके प्रदेश शरीरमें विद्यमान हैं वे, ये दोनों पीछे परस्पर कैसे मिल जाते हैं, तो उत्तर यह है कि; हमने उन आत्माके प्रदेशोंका छेद (विभाग) सर्वथा नहीं माना है । और जो छेद माना है; उसको भी कम-

लकी नालीके तन्तुओंके छेदके समान माना है भावार्थ—जैसे कमलकी नाली (दंडी) का टुकड़ा करने पर उस नालीके ततुओंका विभाग होता है, परतु वे ततु पूर्व ततुओंमें आ मिलते है, इसी प्रकार यद्यपि शरीरका खडन होनेपर आत्माके प्रदेशोंका विभाग होता है, तथापि वे आत्माके प्रदेश पूर्व आत्मप्रदेशोंमें आ मिलते है । और उस प्रकारके अदृष्टके वशसे उन खडित आत्मप्रदेशोंका परस्पर मिलना विरोधरहित ही है । भावार्थ—जैसे तुम्हारे मतमें पाकमें गेरे हुए घटके परमाणु भिन्न २ होकर फिर वैसे अदृष्टके वशसे मिलकर घटरूप हो जाते है, उसीप्रकार आत्माके प्रदेश भी भिन्न २ होकर पुन परस्पर मिल जाते है, अत हमारे माननेमें कोई विरोध नहीं है । इस कारण तुम (वैशेषिको) को आत्मा शरीरपरिमाण ही मानना चाहिये और व्यापक न मानना चाहिये । इस उक्तविषयको सिद्ध करनेके लिये अनुमानका प्रयोग भी है। वह यह है—'आत्मा व्यापक नहीं है । क्योंकि चेतन है, जो व्यापक होता है, वह चेतन नहीं होता है । जैसे कि—आकाश व्यापक है, अत चेतन नहीं है । और आत्मा चेतन है, इस कारण व्यापक नहीं है । ' इस अनुमानसे जब आत्मा व्यापक न हुआ तो अव्यापक सिद्ध हुआ और अव्यापक होनेपर इस आत्माके गुण शरीरमें ही प्राप्त होते है, इसकारण आत्मा शरीरपरिमाण है, यह सिद्ध हो चुका। और हम जेनियोंके भी जो आठ ८ समयोंसे सिद्ध (पूर्ण) होनेयोग्य केवलिसमुद्घातकी दशामें चौदह रज्जुपरिमाण तीन लोकमें व्याप्त हो जानेसे आत्मा सर्वव्यापक है, वह कादाचित्क (किसी समयमें हुआ करता) है इस कारण उससे यहा व्यभिचार नहीं होता है। भावार्थ—यद्यपि हम (जैनियों) ने आत्माको केवलिसमुद्घातदशामें सर्वव्यापक माना है । क्योंकि, केवलिसमुद्घातदशामें आत्माके प्रदेश दड, कपाटादि रूप होकर तीनलोकमें व्याप्त हो जाते है, परन्तु वह केवलिसमुद्घात किसी समय किसी आत्माके हो जाता है नियमित नहीं है, इसकारण तुम आत्माके अव्यापक माननेरूप इस अनुमानमें दोष नहीं दे सकते हो । और स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) रूपी कवच (बकतर) से ढके हुए हम जेनियोंको तुम्हारी ऐसी विभीषिकाओंसे अर्थात् व्यभिचारादिदोषरूप भयोंको उत्पन्न करनेवाली कुयुक्तियोंसे भय (डर) नहीं है। इस प्रकार काव्यका अर्थ है ॥ ९ ॥

वैशेषिकनैयायिकयो प्राय समानतन्त्रत्वादौलूक्यमते क्षिप्ते यौगमतमपि क्षिप्तमेवावसेयम्। पदार्थेषु च तयोरपि न तुल्या प्रतिपत्तिरिति साम्प्रतमक्षपादप्रतिपादितपदार्थाना सर्वेषा चतुर्थपुरुषार्थ प्रत्यसाधकतमत्वे वाच्येऽपि

तदन्तःपातिनां छलजातिनिग्रहस्थानानां परोपन्यासनिरासमात्रफलतया अत्यन्तमनुपादेयत्वात्तदुपदेशदातुर्वैराग्यमुपहसन्नाह ।—

वैशेषिक और नैयायिक, इन दोनोंके सिद्धान्त प्रायः समान है; इस कारण पूर्वोक्त प्रकारसे जो वैशेषिकोंके मतका खडन किया गया है; उससे नैयायिकोंके मतका खंडन भी हो चुका ही समझना चाहिये और पदार्थोंमें उन दोनोंके भी समान स्वीकारता नहीं है अर्थात् वैशेषिक तथा नैयायिक ये दोनों पदार्थोंको भिन्न २ प्रकारसे मानते है; अतः इस अवसरमें यद्यपि अक्षपाद (न्यायसूत्रकार गौतम ऋषी) के कहे हुए सब पदार्थोंको मोक्षके प्रति असाधकतम (मोक्षकी प्राप्ति न करनेवाले) कहने चाहियें तथापि उन पदार्थोंके मध्यमें रहनेवाले जो छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थ है, वे केवल परके कथनका तिरस्कार करनेरूप ही प्रयोजनको धारण करते है अतः सर्वथा ग्रहण करने योग्य नहीं है; इस कारण उन छल जाति और निग्रहस्थानोंका उपदेश देनेवाले गौतम ऋषीके वैराग्यका हास्य करते हुए आचार्य अग्रिम काव्यका कथन करते है ।—

स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् ।
मायोपदेशात्परमर्म भिन्दन्नहो विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥ १० ॥

सूत्रभावार्थः—अपने आप ही विवादरूपी पिशाचसे गृहीत (पकड़े हुए) और वितंडाकी चतुराँईसे मानो खुजलीको ही धारण करता है मुख जिनका ऐसे मूर्खसदृश मनुष्योंमें मायाका उपदेश देकर परमर्मोंको अर्थात् वादीके सिद्धान्तको सिद्ध करनेमें समर्थ उत्तम हेतुओंको भेदता हुआ नैयायिकोंका गोतममुनि वैराग्यका धारक है; यह आश्चर्य है ॥ १० ॥

व्याख्या। अन्येऽविज्ञाततत्वदाज्ञासारतयाऽनुपादेयनामानः परे तेषामयं शास्तृत्वेन संबन्धी अन्यदीयो मुनिरक्षपादऋषिरहो विरक्तोऽहो वैराग्यवान् । (अहो इत्युपहासगर्भमाश्चर्यं सूचयति।) (अन्यदीय इत्यत्र "ईयकारके"

इति दोन्त ।) किं कुर्वन्नित्याह।–परमर्म भिन्दन् (जातावेकवचनप्रयोगात्) परमर्माणि व्यथयन् बहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवा मर्माणीति पारिभाषिकी सञ्ज्ञा तत उपचारात्साध्यस्वतत्त्वसाधनाव्यभिचारितया प्राणभूत साधनोपन्यासोऽपि मर्मेव मर्म । कस्मात्तद्भिन्दन् मायोपदेशाद्धेतो । माया परवञ्चन तस्या उपदेशश्छलजातिनिग्रहस्थानलक्षणपदार्थत्रयप्ररूपणद्वारेण शिष्येभ्य प्रतिपादन तस्मात् । ("गुणादस्त्रिया न वा" इत्यनेन हेतौ तृतीयाप्रसङ्गे पञ्चमी) ।

व्याख्यार्थ—"अन्यदीय" अन्य अर्थात् आपकी आज्ञाके सार (रहस्य) को न जाननेके कारण नहीं ग्रहण करने योग्य हैं नाम जिनके ऐसे जो पर (नैयायिक) है उनका अर्थात् उनके साथ उपदेशकरूपसे सबधको धारण करनेवाला ['अन्यदीय' यहा पर 'ईयकारके' इस सूत्रसे अन्तमें अर्थात् अन्यके आगे 'द' हुआ है ।] "मुनिः" जो अक्षपाद (गोतम) ऋषी है, वह "अहो" आश्चर्य है कि, ['अहो' यह उपहास (हास्य) सहित आश्चर्य को सूचित करता है ।] "विरक्त" वैराग्यका धारक है । क्या करता हुआ वैराग्यको धारण करता है, सो कहते है ।— "परमर्म" दूसरोंके (सिद्धान्तियोंके) मर्मोको ['परमर्म' यहा पर जातिमें एकवचनका प्रयोग है, अत बहुवचनका अर्थ किया गया है] "भिन्दन्" भेदता (दु खित करता) हुआ । भावार्थ—बहुतसे आत्माके प्रदेशोंसे व्याप्त जो शरीरके अवयव है, वे अर्थात् शरीरके जिन भागोंमें बहुतसे आत्माके प्रदेश रहते है वे भाग, मर्म कहलाते है, यह शास्त्रका सकेतित नाम है, इसकारण सिद्ध करने योग्य जो अपने अभीष्ट तत्त्व है, उनके साधनमें व्यभिचार रहिततासे अर्थात् सिद्ध करनेमें समर्थ होनेसे प्राणोंके समान आचरण करनेवाला ऐसा जो साधनका उपन्यास (निर्दोष हेतुका स्थापन करना अथवा देना) है, उसको भी उपचारसे मर्मके समान आचरण करनेसे मर्म कहते है, उस परमर्मको अर्थात् सिद्धान्तियोंके निर्दोष हेतुको खडित करता हुआ । किससे उस परमर्मको भेदता हुआ? "मायोपदेशात्" मायाका उपदेश देनेरूप हेतुसे भावार्थ—परके ठिगनेरूप मायाका जो छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थोंके कथनके द्वारा शिष्योंके प्रति उपदेश देना है, उस कारणसे । ['मायोपदेशात्' यहापर "गुणादस्त्रिया न वा" इस सूत्रसे हेतुमें तृतीयाका प्रसग होनेपर पचमी विभक्ति की गई है]

कस्मिन् विषये मायामयमुपदिष्टवान् इत्याह।–अस्मिन् प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणे जने तत्त्वाऽतत्त्वविमर्शबहिर्मुखतया

प्राकृतप्राये लोके। कथम्भूते स्वयमात्मना परोपदेशनिरपेक्षमेव विवादग्रहिले। विरुद्धः परस्परकक्षीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षो वादो वचनोपन्यासो विवादः। तथा च भगवान् हरिभद्रसूरिः—"लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनामहात्मना। छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः। १।" तेन ग्रहिल इव ग्रहगृहीत इव विवादग्रहिलस्तत्र। यथा ग्रहाद्यपस्मारपरवशः पुरुषो यत्किंचन प्रलापी स्यादेवमयमपि जन इति भावः।

किसके विषयमें अर्थात् किन शिष्योंमें इस गोतम ऋषीने मायाका उपदेश दिया सो कहते है।—"अस्मिन्" इस प्रत्यक्षप्रमाणसे देखनेमें आते हुए "जने" तत्त्व और अतत्त्वके विचारसे बहिर्मुख (रहित) होनेके कारण मूर्खके समान लोक (मनुष्योंके समूह) में। कैसे लोकमें? "स्वयं" दूसरेके उपदेशकी आवश्यकताके विना अपने आप ही "विवादग्रहिले" 'वि' विरुद्ध अर्थात् परस्पर (आपस) में स्वीकार किया हुआ जो पक्ष है; उसके खंडन करनेमें समर्थ ऐसा जो 'वाद' वचनका देना है अर्थात् दूसरेके मतको खंडन करनेमें समर्थ वचनका जो कहना है; वह विवाद है। सोही भगवान श्रीहरिभद्रसूरी कहते है—"द्रव्य आदिका लाभ तथा अपनी प्रसिद्धि (कीर्त्ति) को चाहनेवाले ऐसे जो नीच दुर्मती (कुमतावलम्वी) जन है; उनके द्वारा जो छल, तथा जातिको मुख्य ग्रहण करके कहा जाता है अर्थात् लाभ व कीर्त्तिके इच्छक नीच दुर्मती छल व जातिको प्रधान कर जो कुछ कहते है, वह विवाद है। १।" उस विवादसे ग्रहिल अर्थात् ग्रह करके पकड़े हुएकी तरह जो होवे, उस लोकमें। भावार्थ—जैसे भूत पिशाच आदिके घुस जानेसे स्मृति (बुद्धि) के नाशको प्राप्त हुआ पुरुष चाहे सो वकता है, उसी प्रकार अपने आप ही विवादरूपी ग्रहके वशमें हुआ यह लोक भी जो कुछ (भला बुरा) चाहता है, सो वकता है।

तथा वितण्डा प्रतिपक्षस्थापनाहीनं वाक्यम्। वितण्ड्यते आहन्यतेऽनया प्रतिपक्षसाधनमिति व्युत्पत्तेः। "अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक इत्युच्यते" इति न्यायवार्त्तिकम्। वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं वितण्डा। तत्र यत्पाण्डित्यमविकलं कौशलं तेन कण्डूलं मुखं लपनं यस्य स तथा तस्मिन्। कण्डूः खर्जूः कण्डूरस्यास्तीति कण्डूलम् (सिध्मादित्वान्मत्वर्थीयो लप्रत्ययः)। यथा किलान्तरुत्पन्नकृमिकुलजनितां कण्डूतिं

१ वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिपन्थिप्रतिवाग्युपन्यासः प्रतिपक्षः। कोऽर्थः। वादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षो वैतण्डिकस्य स्वपक्ष एवेति॥

निरोद्धुमपारयन् पुरुषो व्याकुलता कलयति। एव तन्मुखमपि वितण्डापाण्डित्येनासम्बद्धप्रलापचापलमाकलयत् कण्डूलमित्युपचर्यते।

तथा "वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे" खडित किया जाता है प्रतिपक्ष अर्थात् वादीकरके कहे हुए पक्षका विरोधी होनेसे प्रतिवादीके पक्षका अथात् अपने पक्षका सिद्ध करना जिससे, वह वितडा है, इस व्युत्पत्तिसे तथा "जो किसी पक्षको सीकार करके फिर उसको स्थिर (सिद्ध) नहीं करता है, उसको वैतडिक कहते हैं" इस न्यायवार्त्तिकसे प्रतिपक्ष (अपने मत) की स्थापना (सिद्धि) से रहित जो वाक्यका कहना है, सो वितडा है। यथार्थमें तात्पर्य तो यह है कि—नहीं किया गया है तत्त्व, तथा अतत्त्वका विचार जिसमें ऐसा जो मौखर्य (शीघ्रता से कह देना) है अर्थात् विना सोचे समझे मुखसे बक देना है, उसको वितडा कहते हैं, उस वितडामें जो पाण्डित्य अर्थात् परिपूर्ण चतुरता है, उससे कण्डूल अर्थात् कण्डू (खाज व खुजली) है जिसके वह कण्डूल कहलाता है ['कण्डू' यह शब्द सिध्मादिगणका है, इस कारण यहा मत्वर्थीय ल प्रत्यय हुआ है।] कण्डूलके समान कण्डूल है अर्थात् खुजलीका धारक है मुख जिसका ऐसे लोकमें। **भावार्थ**—जैसे अपने शरीरके भीतर पैदा हुए कीड़ोंके समूहसे उत्पन्न हुई खुजलीको रोकने (मिटाने) में असमर्थ हुआ पुरुष व्याकुलताको करता है, इसी प्रकार उस विवादग्रस्तलोकका जो मुख है, वह भी वितडाकी चतुराईसे विना सबधके बकबाद करनेकी चपलताको धारण करता है, इस कारण यहा पर उस विवादग्रस्तलोकके मुखमें साधर्म्यसे कण्डूल इस शब्दका उपचार किया गया है॥ [**सूचना**—यहा पर व्याख्याके अनुसार खडान्वयकी रीतिसे ही अनुवाद किया गया है, परतु यदि दूरान्वय होनेके कारण आशय समझमें न आवे तो इस अनुवादमें मूलके शब्दों पर जो दडान्वयकी रीतिसे अक दिये गये है, उनको क्रमश लगाकर आशय समझ लेना चाहिये।]

एव च स्वरसत एव स्वस्वाभिमतमतव्यवस्थापनाविसस्थुलो वैतण्डिकलोकस्तत्र च तत्परमाप्तभूतपुरुषविशेषपरिकल्पितपरवञ्चनप्रचुरवचनरचनोपदेशश्चेत्सहाय समजनि तदा स्वत एव ज्वालाकलापजटिले प्रज्वलति हुताशन इव कृतो घृताहुतिप्रक्षेप इति। तैश्च भवाभिनन्दिभिर्वादिभिरेतादृशोपदेशदानमपि तस्य मुने कारुणिकत्व-

१ रचनानाम अथज्ञानपूर्वक प्रागसत्या एव परानुपूर्व्याः करणम्। २ सकटे प्रस्तावे च सति छलादिभि स्वपक्षस्थापनमभिमत परविजय हि न धमध्वसादिदोषसम्भव तस्माद्वरं छलादिभिरपि जय इति।

कोटावारोपितम्। तथा चाहुः—"दुःशिक्षितकुतर्कांश–लेशवाचालिताननाः। शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः ।१। गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः। मागादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः । २ ।" कारुणिकत्वं च वैराग्यान्न भिद्यते। ततो युक्तमुक्तमहो विरक्त इति स्तुतिकारेणोपहासवचनम् ।

इस पूर्वोक्त प्रकारसे वैतंडिकलोक स्वभावसे ही अपने अपने अभीष्ट मतका स्थापन करनेमें चतुर है और उसमें जो उस वैतंडिकलोकके परम आप्त (यथार्थवक्ता) स्वरूप पुरुषविशेष (गोतममुनि)के द्वारा कल्पना किये हुए दूसरोंका ठिगना है प्रधान जिनमें ऐसे वचनोंकी रचनारूप (पदार्थ ज्ञानसहित अपूर्व वाक्योंके बनाने रूप) उपदेश सहायक हो गया तब मानों गौतममुनिने अपने आप ही ज्वालाओंके समूहसे व्याप्त ऐसी जलती हुई अग्निमें घृतकी आहुतिका ही क्षेपण किया। **भावार्थ—**जैसे स्वतः जाज्वल्यमान अग्निमें घृतके गेरनेसे वह अग्नि द्विगुण–चतुर्गुणरूपसे प्रज्वलित हो जाती है; उसी प्रकार स्वभावसे ही वितंडाको धारण करनेवाले मनुष्योंमें गोतममुनिने छल आदिका उपदेश देकर उन मनुष्योंकी वितंडाको अत्यन्त बढा दी है । और संसारमें संतोषको धारण करनेवाले अथवा ससारकी प्रशंसा करनेवाले अर्थात् संसारको अच्छा समझनेवाले उन नैयायिक वादियोंने उस गोतममुनिका जो ऐसा अर्थात् संकट तथा प्रस्तावके आनेपर छलआदिके द्वारा अपने पक्ष (मत) की स्थापना करनी चाहिये; क्योंकि;–दूसरोंके जीतनेमें छल आदिसे धर्मका नाश नही होता है, इस कारण छल आदिसे भी वादियोंको जीत लेना अच्छा है; इस प्रकारके उपदेशका जो देना है; उसको भी करुणवानपनेकी श्रेणीमें रक्खा है । सो ही वे नैयायिक कहते है कि,—अत्यन्त परिश्रमसे पढे हुए जो कुतर्क (खोटी दलीलें) है उनके अंशोंके लेशोंसे वाचालित (बकबाद करनेके लिये तत्पर हुए) मुखको धारण करनेवाले वादी अन्यप्रकारसे अर्थात् छल आदिके विना कैसे जीते जा सकें । १ । लोक गतानुगतिक (देखादेखीसे गयेके पीछे जानेवाला) है; अतः उन वादियोंसे ठिगा हुआ होकर उनका अनुकरण करके कुमार्गमें न चला जावे; इसी हेतुसे दयाके धारक गोतमऋषीने छल आदिका उपदेश दिया है । **भावार्थ—**यदि मै छल आदिका उपदेश न दूंगा तो भोले मनुष्य दूसरे वादियोंके मतमें चले जावेंगे, यही अपने मनमें विचारकर करुणाके धारक गोतममुनिने छल आदिका उपदेश दिया है । २ ।" और करुणावानपना वैराग्यसे जुदा नही होता है अर्थात् कारुणिकत्व और वैराग्य ये दोनों एकरूप ही है, इस कारण स्तुतिके कर्त्ता आचार्यमहाराजने जो " आश्चर्य है कि,– गोतम मुनि विरक्त है " ऐसा हास्यका वचन कहा है, सो ठीक ही कहा है ।

अथ मायोपदेशादितिसूचनासूत्र वितन्यते । अक्षपादमते किल षोडश पदार्था –"प्रमाणप्रमेयसशयप्रयोजनदृ-
ष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाना तत्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगम"
इति वचनात् । न चैतेषा व्यस्ताना समस्ताना वा अधिगमो नि श्रेयसावाप्तिहेतु । न ह्येकेनैव क्रियाविरहितेन
ज्ञानमात्रेण मुक्तिर्युक्तिमती । असमग्रसामग्रीकत्वात् । विघटितैकचक्ररथेन मनीषितनगरप्राप्तिवत् ।

अब 'मायोपदेशात्' इस सूचनासूत्रको विस्तृत करते हैं अर्थात् मूलमें जो मायाके उपदेशसे ऐसा कुछ सूचित किया है,
उसको यहां विस्तारसे कहते हे । अक्षपादके मतमें (नैयायिक मतमें) " प्रमाण १, प्रमेय २, सशय ३, प्रयोजन ४, दृष्टान्त
५, सिद्धान्त ६, अवयव ७, तर्क ८, निर्णय ९, वाद १०, जल्प ११, वितण्डा १२, हेत्वाभास १३, छल १४, जाति १५
और निग्रहस्थान १६, इन सबोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती हे । " इसवचनसे सोलह १६ पदार्थ हैं । परन्तु नैयायिकोंके
माने हुए इन सोलह पदार्थोंमेंसे व्यस्त अर्थात् एक दो चार आदि थोड़ेसे पदार्थोंका ज्ञान लेना अथवा इन सब सोलह पदार्थोंका
जान लेना भी मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नहीं हे । क्योंकि, क्रियासे रहित केवल एक ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्तिका होना युक्तिको नहीं
धारण करता हे, कारण कि,–पूर्णसामग्रीसे (सपूर्ण कारणोंसे) शून्य हे । जैसे कि,–एक टूटे हुए पहियेको धारण करनेवाले
रथसे मनोवाछित नगरकी प्राप्ति नहीं होती है । भावार्थ—नैयायिक जो सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्तिका होना
कहते है सो ठीक नहीं हे । क्योंकि, जैसे रथके दो पहियोंमेंसे एक पहिया टूटा हुआ हो तो उस एक पहियेवाले रथमें बैठनेसे
मनुष्य अपने चाहे हुए नगरको नहीं जाता हे, इसी प्रकार, इन सोलह पदार्थोंके जानलेने मात्रसे ही आत्माको मोक्षकी प्राप्ति
नहीं होती है, किन्तु ज्ञान और क्रिया इन दोनोंके होनेसे ही आत्माको मोक्ष मिलता हे।

न च वाच्य न खलु वय क्रिया प्रतिक्षिपाम । किन्तु तत्त्वज्ञानपूर्विकाया एव तस्या मुक्तिहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थ
तत्त्वज्ञानान्नि –श्रेयसाधिगम इति ब्रूम इति । न ह्यमीषा सहते अपि ज्ञानक्रिये मुक्तिप्राप्तिहेतुभूते । वितथत्वात्
तज्ज्ञानक्रिययो । न च वितथत्वमसिद्धम् । विचार्यमाणाना षोडशानामपि तत्त्वाभासत्वात् । तथा हि—तै
प्रमाणस्य तावल्लक्षणमित्थ सूत्रितम्–" अर्थोपलब्धिहेतु प्रमाणम् " इति । एतच्च न विचारसहम् । यतोऽर्थोपल-
ब्धौ हेतुत्व यदि निमित्तत्वमात्र तत्सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्ग । अथ कर्तृकर्मादिवि-

लक्षणं हेतुशब्देन करणमेव विवक्षितं तर्हि तज्ज्ञानमेव युक्तं न चेन्द्रियसन्निकर्षादि । यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति स तत्करणम्। न चेन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावेऽर्थोपलम्भः । साधकतमं[1] हि करणम् । अव्यवहितफलं च तदिष्यते । व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दुग्धभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः । तन्न ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम् । अन्यत्रोपचारात् । यदपि न्यायभूषणसूत्रकारेणोक्तं–" सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् " इति । तत्रापि साधनग्रहणात्कर्तृकर्मनिरासेन करणस्यैव प्रमाणत्वं सिध्यति । तथाप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैव। इति न तत्सम्यग्लक्षणम्।"स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । " इति तु तात्त्विकं लक्षणम् ।

अव यदि यह नैयायिक यह कहै कि, हम क्रियाका निषेध नही करते है, अर्थात् सूत्रमें १६ पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है ऐसा कहनेसे यह न समझना चाहिये कि,–हम क्रिया (आचरण व चारित्र) को मोक्षकी प्राप्तिके प्रति कारण नही मानते है, किन्तु सोलहपदार्थोंके तत्त्वज्ञान पूर्वक (सहित) जो क्रिया है, वही मुक्तिकी कारणभूता है, इस आशयको विदित करनेके लिय ' तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते है । सो यह भी उनको न कहना चाहिये । क्योंकि पदार्थोंके ज्ञान और क्रिया ये दोनों मिले हुए भी मोक्षकी प्राप्तिमें कारणभूत नही है अर्थात् इन सोलह पदार्थो सबंधी ज्ञान और क्रियाके समुदायको भी मोक्षका कारण मानना ठीक नही है । क्योंकि; उन पदार्थोसंबंधी जो ज्ञान तथा क्रिया है; वे दोनों ही मिथ्या है। और मिथ्यापना असिद्ध नहीं है।कारण कि,–परीक्षा करनेपर ये सोलह ही पदार्थ तत्त्वाभास सिद्ध होते हैं । सो ही दिखलाते है–उन नैयायिकोंने प्रथम ही प्रमाणका लक्षण इस प्रकारसे सूत्रित किया है " अर्थोपलब्धिमे अर्थात् पदार्थके प्रत्यक्षमें जो हेतु है; वह प्रमाण है " । और यह प्रमाणका लक्षण विचारको नहीं सहता है अर्थात् विचार करनेपर असत्य सिद्ध होता है । क्योंकि; यदि अर्थोपलब्धिमें हेतु जो है वह निमित्तमात्र है अर्थात् जो जो अर्थोपलब्धिमें निमित्तकारण है; उस २ सभीको अर्थोपलब्धिमे हेतु कहोगे तो वह हेतुत्व सब कारकोमे साधारण है, अतः कर्त्ता, कर्म आदिके भी प्रमाणताका प्रसंग

१ यत्र हि प्रमात्रा व्यापारिते सत्यवश्य कार्योत्पत्तिरन्यथा पुनरनुत्पत्तिरेव तत्तत्र साधकतमम् । यथा छिदायां दात्रम् । तथाचोक्त—" क्रियायाः परनिष्पत्तिः यद्व्याहारादनन्तरम् । विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्व तदा स्मृतम् ॥ १ ॥ " २ कारणे कार्योपचारात् कार्ये कारणोपचाराद्वा प्रमाणभूतेन पक्षहेतुवचनात्मकेन परार्थानुमानेन व्यभिचारवारणाय अन्यत्रोपचारादित्युक्तम् ।

होगा अर्थात् अर्थोपलब्धिमें छहों ही कारक निमित्तभूत हैं, इसकारण कर्ता कर्म आदि भी प्रमाण हो जावेंगे, जो कि, तुम्हारे अनिष्ट है। और यदि हेतुशब्दसे कर्ता कर्म आदिसे भिन्न लक्षणका धारक (जुदे स्वरूपवाला) ऐसा जो करण है, वह ही विवक्षित है अर्थात् हेतुशब्दसे करणका ही कथन करना चाहते हो, तो उस आत्मा ज्ञानको ही अर्थोपलब्धिमें करण कहना ठीक है और इन्द्रियसन्निकर्ष (इन्द्रिय और पदार्थके संबध) आदिको अर्थोपलब्धिमें करण कहना अनुचित है। क्योंकि, जिसके विद्यमान होनेपर अर्थ उपलब्ध होवे अर्थात् देखा व जाना जावे, वही अर्थोपलब्धिमें करण है। और इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सामग्री (सहकारी कारणोंके समूह) के विद्यमान होने पर भी ज्ञानका अभाव होवे तो अर्थका उपलम्भ (ज्ञान) नहीं होता है। भावार्थ—ज्ञानके होने पर ही अर्थोपलब्धि होती है, न कि, केवल इन्द्रिय सन्निकर्ष आदिसे, अतः ज्ञानको ही अर्थोपलब्धिमें हेतु मानना चाहिये। क्योंकि, जो साधकतम (कार्यको मुख्यतासे सिद्ध करनेवाला) होता है, वही हेतु (कारण) करण कहलाता है। अर्थात् जहां जिस कारण को व्यवहारमें लानेसे अवश्य ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, वही वहां साधकतम होता है और वह करण अव्यवहितफल माना गया है अर्थात् उस करणको व्यवहारमें लानेसे कार्यरूप फलकी ही उत्पत्ति होती है बीचमें अन्य कुछ भी नहीं होता है। यदि व्यवहितफलवालेको (बीचमें अन्य २ कार्योंको करनेके पश्चात् कालान्तरमें अभीष्टकार्यरूप फल देनेवालेको) भी करण मानें तो दुग्धके भोजन आदिके भी करणता हो जावे। भावार्थ—दुग्धभोजन आदिसे इन्द्रिय आदिकी शक्ति बढ़ती है इन्द्रिय आदिकी शक्ति हो तब पदार्थके साथ उनका संबध होनेसे अर्थोपलब्धि होती है, इसप्रकार परंपरासे अर्थोपलब्धिमें कारणभूत जो दुग्ध भोजन आदि हैं, वह भी करण हो जावें, जो कि तुमको अभीष्ट नहीं है। इस कारण ज्ञानसे अन्यमें प्रमाणता नहीं है अर्थात् अर्थोपलब्धिमें हेतु होनेसे ज्ञान ही प्रमाण है। क्योंकि, अन्य स्थलमें अर्थात् कारणमें कार्यका व कार्यमें कारणका उपचार करके पक्ष तथा हेतुका कथन करने रूप जो परार्थानुमान है, उसमें जो प्रमाणत्व है, वह उपचारसे है। और " जो अनुभवका सम्यक् (भले प्रकार) साधन है, वह प्रमाण है। ऐसा जो न्यायभूषणसूत्रके कर्ताने प्रमाणका लक्षण कहा है, उस लक्षणमें भी साधनका ग्रहण करनेसे कर्ता-कर्म आदिको दूर करने द्वारा करणके ही प्रमाणता सिद्ध होती है। तो भी अव्यवहितफलपनेसे ज्ञान ही साधकतम (करण) है। इस कारण यह भी प्रमाणका लक्षण अच्छा नहीं है। और 'अपने तथा परका निश्चयकरानेवाला जो ज्ञान है, वह प्रमाण है।' ऐसा जो हम जैनियोंका लक्षण है, वह तो यथार्थ (सच्चा) है।

प्रमेयमपि तैरात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदाद्द्वादशविधमुक्तम् । तच्च न सम्यग् । यतः शरीरेन्द्रियबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषफलदुःखानामात्मन्येवान्तर्भावो युक्तः । संसारिण आत्मनः कथञ्चित्तदविष्वग्भूतत्वात् । आत्मा च प्रमेय एव न भवति । तस्य प्रमातृत्वात् । इन्द्रियबुद्धिमनसां तु करणत्वात् प्रमेयत्वाऽभावः । दोषास्तु रागद्वेषमोहास्ते च प्रवृत्तेर्न पृथग्भवितुमर्हन्ति । वाङ्मनःकायव्यापारस्य शुभाशुभफलस्य विंशतिविधस्य तन्मते प्रवृत्तिशब्दवाच्यत्वात् । रागादिदोषाणां च मनोव्यापारात्मकत्वात् । दुःखस्य शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां च फल एवान्तर्भावः । " प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलं तत्साधनं तु गौणम् ।" इति जयन्तवचनात् । प्रेत्यभावापवर्गयोः पुनरात्मन एव परिणामान्तरापत्तिरूपत्वान्न पार्थक्यमात्मनः सकाशादुचितम् । तदेवं द्वादशविधं प्रमेयमिति वाग्विस्तरमात्रम् । " द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम् " इति तु समीचीनं लक्षणम् । सर्वसंग्राहकत्वात् । एवं संशयादीनामपि तत्त्वाभासत्वं प्रेक्षावद्भिरनुपेक्षणीयम् । अत्र तु प्रतीतत्वाद् ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रपञ्चितम् । न्यक्षेण ह्यत्र न्यायशास्त्रमवतारणीयम् । तच्चावतार्यमाणं पृथग्ग्रन्थान्तरतामवगाहत इत्यास्ताम् ।

उन नैयायिकोंने प्रमेय (प्रमाण करने योग्य जो पदार्थ) है; उसको भी आत्मा १, शरीर, २, इन्द्रिय ३, अर्थ ४, वुद्धि ५, मन ६, प्रवृत्ति ७, दोष ८, प्रेत्यभाव ९, फल १०, दुःख ११ और अपवर्ग, इन भेदोंसे बारह १२ प्रकारका कहा है। और वह बारह प्रकारके प्रमेयका कथन करना उत्तम नही है । क्योंकि;—शरीर १, इन्द्रिय २, बुद्धि ३, मन ४, प्रवृत्ति ५, दोष ६, फल ७, तथा दुःख ८; इन आठ भेदोंका तो आत्मामें ही अन्तर्भाव कर लेना ठीक है अर्थात् शरीरादि आठ प्रमेयोंको तो आत्मारूप प्रमेयमें ही मिला लेने चाहियें । क्योंकि जो संसारी आत्मा है; वह किसी प्रकार (अपेक्षा) से इन शरीर आदिसे भिन्न नही है अर्थात् शरीरादिरूप ही है । और जो आत्मा है वह तो प्रमाता (प्रमितिक्रियाका करनेवाला) है अतः प्रमेय ही नहीं हो सकता है । इन्द्रिय, बुद्धि तथा मन ये तीनो तो करण है अर्थात् प्रमाता इनके द्वारा प्रमितिक्रियाको करता है अतः प्रमेय नही है । और दोष जो राग, द्वेष तथा मोहरूप हैं; वे प्रवृत्तिसे जुदे होने योग्य नही है । क्योंकि; उन नैयायिकोंके मतमें शुभ और अशुभफलको धारण करनेवाला ऐसा जो बीस २० प्रकारका मन, वचन, तथा काय; इन तीनोंका व्यापार है;

वही प्रवृत्तिशब्दसे वाच्य (कहने योग्य) है अर्थात् उन नैयायिकोंने प्रवृत्तिशब्दसे मन, वचन तथा कायके बीस प्रकारके व्यापाररूप अर्थको ग्रहण किया है और राग आदि दोष मनके व्यापार रूप है। दु खका तथा शब्द आदि जो इन्द्रियोंके विषय हैं, उनका फलरूप प्रमेयमें ही अन्तर्भाव होता है अर्थात् दु ख और अर्थरूप जो दो प्रमेय है वे फलनामक प्रमेयमें ही शामिल होते है। क्योंकि 'प्रवृत्ति तथा दोषसे उत्पन्न हुआ ऐसा जो सुख दु खरूप फल है, वह मुख्य फल है और उस सुखदु खरूप फलका जो साधन है, वह गौणफल है।' ऐसा जयन्तका वचन है। प्रेत्यभाव और अपवर्ग ये दोनों आत्मा ही के दूसरे परिणामरूप हैं अर्थात् आत्मा ही पूर्वपरिणामका त्याग करके इस प्रेत्यभाव तथा अपवर्गरूप उत्तर परिणाम (अवस्था) को धारण कर लेता है, अत इन दोनोंको आत्मासे जुदे मानना उचित नहीं है। सो इस पूर्वोक्तप्रकारसे वारहप्रकारके प्रमेयोंका जो कथन करना है, वह केवल वाग्जाल (वचनोंके आडम्बर) रूप है अर्थात् व्यर्थ है। और द्रव्य तथा पर्यायस्वरूप जो वस्तु है, वह प्रमेय है, यह जो हम जैनियोंने प्रमेयका लक्षण कहा है सो तो वहुत उत्तम है। क्योंकि,—यह लक्षण सबका संग्रह करनेवाला है। इस पूर्वोक्त प्रकारसे प्रेक्षावान पुरुषोंको संशय आदिके भी तत्त्वाभासपना उपेक्षित नहीं करना चाहिये। भावार्थ—जैसे नैयायिकोंके १६ पदार्थोंमेंसे प्रमाण तथा प्रमेयको हमने उक्त प्रकारसे तत्त्वाभासरूप सिद्ध किया है, उसीप्रकार विचारवान पुरुष संशय आदि शेष चौदह १४ पदार्थोंको भी तत्त्वाभासरूप समझ लेवें। यहा तो वे सब संशयादि पदार्थ जाने हुए है इस कारणसे तथा उनका यहा कथन करनेसे ग्रंथका विस्तार अधिक हो जानेके भयसे उनको विस्तृतरूपसे नहीं दिखाये है। क्योंकि यहा पूर्णरूपसे न्यायशास्त्र (नैयायिकोंके मत) का अवतरण करना चाहिये अर्थात् संपूर्ण नैयायिकोंके मतको दिखलाना चाहिये। और अवतरण किया हुआ वह न्यायशास्त्र इस ग्रंथसे भिन्न एक दूसरे ग्रंथरूप हो जावे। इस कारण वह न्यायशास्त्र यहा न कहा हुआ ही रहो।

सदेव प्रमाणादिषोडशपदार्थानामविशिष्टेऽपि तत्त्वाभासत्वे प्रकटकपटनाटकसूत्रधाराणां त्रयाणामेव छलजातिनिग्रहस्थानानां मायोपदेशादितिपदेनोपक्षेप कृत। तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातश्छलम्। तत्त्रिधा वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति। तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम्। यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः संख्यामारोप्य निषेधति कुतोऽस्य नव कम्बला इति। संभावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेध सामान्य

च्छलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याऽऽचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति संभवति ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसंपदिति । तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते । यदि ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसंपद्भवति व्रात्येऽपि सा भवेद्व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्था पुरुषाः क्रोशन्तीति ।

सो इस पूर्वोक्तप्रकारसे प्रमाण आदि सोलह पदार्थोंके तत्त्वाभासपनेमें कोई भी विशेष नहीं है अर्थात् नैयायिकोंके माने हुए सोलह ही पदार्थ समानरूपतासे तत्त्वाभास है, तो भी स्तुतिके कर्त्ता आचार्यमहाराजने **'मायोपदेशात्'** इस पदसे उन पदार्थोंमेंसे प्रकटमें कपटरूप नाटकके सूत्रधार अर्थात् सर्वसाधारणके देखते २ कपटको रचनेवाले ऐसे जो छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थ हैं; उनका ही उपक्षेप (ग्रहण) किया है । उनमें वादी जो कहै; उसके कथनमें अर्थविकल्प (दूसरे अर्थ) को उत्पन्न करके जो वादीके वचनका निषेध करना है, उसको छल कहते हैं । वह छल वाक्छल १, सामान्यछल २ और उपचारछल ३; इन भेदोंसे तीन प्रकारका है । इन तीनों छलोंमेंसे वादी साधारणशब्द (अनेक अर्थोंके धारक एक शब्द) का प्रयोग करे, तब उस कहनेवाले वादीके वांछित (चाहे हुए) अर्थसे अन्य दूसरे अर्थकी कल्पना करके जो वादीके कथनका निषेध करना है, वह वाक्छल है । जैसे यह बालक नव (नये) कम्बल (' कामला ' नामक वस्त्रविशेष) को धारण करता है; इस प्रकार ' नव ' शब्दसे नवीन (नये) रूप अर्थको कहनेकी इच्छासे वादी कहै; तब प्रतिवादी नव इस शब्दसे नौ ९ की संख्यारूप अर्थको ग्रहण करके इस बालकके नव (नौ) कम्बल कहां है अर्थात् यह तो एक ही कंबलका धारक है इस प्रकार कहकर वादीके कथनको निषेध करता है । १ । संभावनासे अत्यंत प्रसंग (संबंध) को धारण करनेवाले सामान्यका कथन करनेपर उस सामान्यमें हेतुका आरोप करके अर्थात् सामान्यको हेतु बनाकर जिसमें दूसरेके कथनका निषेध किया जाता है; वह सामान्यछल कहलाता है । जैसे आश्चर्य है कि—यह ब्राह्मण विद्या और आचरणरूप संपदाको धारण करता है; इस प्रकार ब्राह्मणकी स्तुतिके प्रसंगमें अर्थात् यह ब्राह्मण ज्ञान व चारित्र सहित है इसरूपसे कोई ब्राह्मणकी प्रशंसा करता हो; उसी अवसरमें कोई पुरुष कथन करे कि; ब्राह्मणमें विद्या और आचरणरूप संपदा हो सकती है । तब सामान्यछलको कहनेवाला

प्रतिवादी ब्राह्मणमें हेतुताका आरोप करके अर्थात् ब्राह्मणरूप सामान्यको हेतु बनाकर उसके कथनका खंडन करनेको तैयार होता है कि—यदि ब्राह्मणमें विद्या तथा आचरणकी संपदा होती है तो व्रात्यमें भी अर्थात् जो जातिसे तो ब्राह्मण है, परंतु संस्कार आदिसे रहित होनेके कारण ब्राह्मणोंके समूहसे गिर गया है, उसमें भी वह विद्या और आचरणकी संपदा होवे। क्योंकि व्रात्य भी ब्राह्मण ही है अर्थात् यद्यपि ब्राह्मणोंने उसको अपने समूहमेंसे निकाल दिया है तथापि वह ब्राह्मण मातापिताओंके योगसे उत्पन्न हुआ है, अतः वह भी ब्राह्मण ही है। २। उपचार (लक्षणा) से किये हुए प्रयोगमें मुख्य अर्थका निषेध करके जिसमें वादीके कथनसे विरुद्ध कथन किया जावे, वह उपचारछल कहलाता है। जैसे—'मंच (माचे अर्थात् खाट) रुदन करती हैं' इस प्रकार वादीके कहनेपर पर उपचारछलसे कथन करनेवाले प्रतिवादी विरुद्ध भाषण करते हैं कि, अचेतन मंच कैसे रुदन करते हैं ' मंचपर स्थित पुरुष रुदन करते हैं। भावार्थ—तुम जो कहते हो कि,—'मंच रुदन करते है,' सो ठीक नहीं है, क्योंकि मंच तो अचेतन हैं, अतः तुमको मंचपर बैठे हुए मनुष्य रुदन करते है, ऐसा कहना चाहिये।

तथा सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिर्दूषणाभास इत्यर्थः। सा च चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन। यथा साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षाऽपकर्षवर्ण्याऽवर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्ताऽनुत्पत्तिसंशयप्रकरणाऽहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्याऽनित्यकार्यसमा।

तथा जब वादी निर्दोष हेतु अथवा हेत्वाभासका प्रयोग करे तब उस वादीके कथनमें किसी दोषका प्रतिभास न होनेपर भी अर्थात् दोष मालम हुए विना भी जो, प्रायः हेतुके समान प्रतीत हो, ऐसा शीघ्रतासे कुछ भी विरुद्ध कह देना है, उसको जाति अथवा दूषणाभास कहते हैं। वह साधर्म्यआदिसे प्रत्यवस्थान (विरुद्ध भाषण करने) रूप भेदोंसे चोवीस २४ प्रकारकी है। वे चोवीस भेद निम्नलिखित हैं—साधर्म्य १, वैधर्म्य २, उत्कर्ष ३, अपकर्ष ४, वर्ण्य ५, अवर्ण्य ६, विकल्प ७, साध्य ८, प्राप्ति ९, अप्राप्ति १०, प्रसंग ११, प्रतिदृष्टान्त १२, अनुत्पत्ति १३, संशय १४, प्रकरण १५, हेतु १६, अर्थापत्ति १७, अविशेष १८, उपपत्ति १९, उपलब्धि २०, अनुपलब्धि २१, नित्य २२, अनित्य २३, और कार्यसम २४।

तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे कृते

साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम् । नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत् । न चास्ति विशेपहेतुर्घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनराकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्यत्रैव प्रयोगे स[1] एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते। नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्। अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति । उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः । तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कंचित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु । न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति । अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्-अश्रावणो दृष्टः । एवं शब्दोऽप्यस्तु । नो चेद् घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति । इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थं जातय उक्ताः । एवं शेषा अपि विंशतिरक्षपादशास्त्रादवसेयाः । अत्र त्वनुपयोगित्वान्न लिखिताः ।

उन २४ प्रकारकी जातियोंमेंसे जो साधर्म्यके द्वारा प्रत्यवस्थान है, वह साधर्म्यसमा जाति कहलाती है । भावार्थ—जैसे कोई वादी ' शब्द जो है, वह अनित्य है । कृतक होनेसे, घटके समान अर्थात् जैसे कृतक (अपनी उत्पत्तिमें दूसरेके व्यापारको चाहनेवाला) होनेसे घट अनित्य है; उसी प्रकार कृतक होनेसे शब्द भी अनित्य है, ऐसा अनुमानका प्रयोग करे अर्थात् घटके कृतकत्वरूप धर्मको शब्दमें ग्रहण करके शब्दको अनित्य सिद्ध करे तब प्रतिवादी जो ' शब्द नित्य है निरवयव होनेसे आकाशके समान अर्थात् जैसे अवयवरहित होनेके कारण आकाश नित्य है, उसी प्रकार अवयवरहित होनेसे शब्द भी नित्य है । और घटके साधर्म्यरूप कृतकत्वको धारण करनेसे शब्द अनित्य है तथा आकाशके साधर्म्यरूप निरवयवत्वको धारण करता हुआ भी शब्द नित्य नहीं है इस माननेमें कोई विशेषहेतु (नियामक) नहीं है जिससे कि—शब्दको घटके समान अनित्य ही माना जावे और आकाशके समान नित्य न माना जावे। इस प्रकार आकाशके निरवयवत्वधर्मका धारक शब्दको दिखलाकर वादीके कथनसे विरुद्ध भापण करे अर्थात् शब्दमें नित्यता सिद्ध करे तो समझना चाहिये कि; यहां पर प्रतिवादी साधर्म्यसमा जातिका प्रयोग

१. निरवयवत्वरूप एव । २. घटरूपदृष्टान्तवैधर्म्येण ।

करता है। १ । वैधर्म्यसे जो प्रत्यवस्थान है, वह वैधर्म्यसमा जाति है । भावार्थ—जैसे-शब्द अनित्य है कृतक होनेसे
घटके समान इसी वादीके कहे हुए अनुमान प्रयोगमें 'शब्द नित्य है अवयवरहित होनेसे । क्योंकि जो अनित्य होता है,
वह सावयव (अवयवसहित) देखा गया है । जैसे कि—घटादिपदार्थ अनित्य है इसकारण सावयव है । और घटके
साधर्म्य कृतकत्वसे शब्द अनित्य है तथा घटके वैधर्म्य (घटमें न रहनेवाले) निरवयवत्वसे शब्द नित्य नहीं है अर्थात्
कृतकताको धारण करता हुआ शब्द अनित्य है और शब्द यद्यपि निरवयवत्वको धारण करता है तो भी नित्य नहीं है
ऐसा माननेमें कोई विशेषहेतु नहीं है, जिससे कि 'शब्द अनित्य ही है' यह माना जावे । इसप्रकार उसी निरवयवत्वरूप हेतुको
घटके वैधर्म्यरूप दिखलाकर जो प्रतिवादी विरुद्ध भाषण करे अर्थात् शब्दमें नित्यता सिद्ध करे तो समझना चाहिये कि, यहां पर
प्रतिवादीने वैधर्म्यसमा जातिका प्रयोग किया है ।२। उत्कर्षसे जो प्रत्यवस्थान है, वह उत्कर्षसमा जाति कहलाती है । भावार्थ—
जो 'शब्द अनित्य है कृतक होनेसे घटके समान' इसी वादीद्वारा किये हुए अनुमानके प्रयोगमें साध्यधर्मीमें अर्थात् वादी जिस
पदार्थमें जिस धर्मको सिद्ध करता है, उसी पदार्थमें दृष्टान्तके किसी दूसरे धर्मको सिद्ध करे तो समझना चाहिये कि यहांपर प्रति-
वादी उत्कर्षसमा जातिका प्रयोग करता है। जैसे कि-कृतक होनेसे यदि घटके समान शब्द अनित्य है, तो घटके समान ही शब्द
मूर्त भी होवे यदि शब्द मूर्त नहीं होता है तो घटके समान शब्द अनित्य भी मत हो । इस प्रयोगमें प्रतिवादी वादीके अनित्य
त्वरूप साध्यके धर्मी शब्दमें घट दृष्टान्तके मूर्तत्वरूप दूसरे धर्मको सिद्ध करता है । ३ । अपकर्षसे जो प्रत्यवस्थान है, वह अप
कर्षसमाजाति कहलाती है । भावार्थ—साध्यधर्मीमेंसे दृष्टान्तमें नहीं रहनेवाले किसी धर्मको निकालकर जो प्रतिवादी वादीके
विरुद्ध भाषण करे तो जानना चाहिये कि, यहांपर प्रतिवादीने अपकर्षसमा जातिका प्रयोग किया है। जैसे कि—कृतक हुआ
घट कर्णइन्द्रियका विषय नहीं देखनेमें आता है अर्थात् घट कृतक है । परंतु सुननेमें नहीं आता है। उसीप्रकार शब्दको भी श्रवण
का विषय न होना चाहिये अर्थात् घटके समान शब्दको भी सुननेमें नहीं आना चाहिये। यदि ऐसा नहीं है अर्थात् घटके समान शब्द
श्रवणइन्द्रियके अविषयरूप नहीं है तो घटके समान शब्द अनित्य भी मत हो । इस प्रयोगमें प्रतिवादी वादीके साध्यधर्मी शब्दमें
घट दृष्टान्तके श्रवणइन्द्रियाविषयत्वधर्मको दूर करता है । ४ । ऐसे ये चार जातियें यहांपर थोड़ासा जातियोंका स्वरूप दिखलानेके

लिये कही गई है । इसीप्रकार बाकी की जो बीस जातियें हैं, उनका स्वरूप भी गोतमके शास्त्र (न्यायदर्शनसूत्र अथवा नैयायिकोंके ग्रन्थों) से जान लेना चाहिये । इस प्रकृत ग्रन्थमें तो वे अनुपयोगी है, इसलिये उनका स्वरूप नहीं लिखा गया है ।

तथा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् । तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति । अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं दूषणस्य चानुद्धरणम् । तच्च निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम् । तद्यथा—प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरं, अर्थान्तरं, निरर्थकं, अविज्ञातार्थं, अपार्थकं, अप्राप्तकालं, न्यूनं, अधिकं, पुनरुक्तं, अननुभाषणं, अज्ञानं, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्च ।

और विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति जो है; उसको निग्रहस्थान कहते है । उनमें साधनाभासमें अर्थात् जो यथार्थमें तो साधन न हो, परंतु साधन जैसा जान पड़े उसमें जो साधनकी बुद्धि है अर्थात् साधनपना मान लेना है, वह, तथा दूषणाभास (दूषणके समान प्रतीत होनेवाले) में जो दूषणकी बुद्धिका होना है; वह, ऐसे इन दोनों प्रकारोंरूप तो विप्रतिपत्ति है । और साधनका अदूषण अर्थात् प्रतिवादीके साधनको दोषरहित मानलेना तथा प्रतिवादीके दिये हुए दूषणको दूर न करना, इन दोनों प्रकारोंरूप अप्रतिपत्ति है । यह निग्रहस्थान बाईस २२ प्रकारका है । वे भेद इस निम्न लिखित रीतिसे है—प्रतिज्ञाहानि १, प्रतिज्ञान्तर २, प्रतिज्ञाविरोध ३, प्रतिज्ञासंन्यास ४, हेत्वन्तर ५, अर्थान्तर ६, निरर्थक ७, अविज्ञातार्थ ८, अपार्थक ९, अप्राप्तकाल १०, न्यून ११, अधिक १२. पुनरुक्त १३, अननुभाषण १४, अज्ञान १५, अप्रतिभा १६, विक्षेप १७ मतानुज्ञा १८, पर्यनुयोज्योपेक्षण १९, निरनुयोज्यानुयोग २०, अपसिद्धान्त २१ और हेत्वाभास २२ ।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम् । यथाऽनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियकत्वमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवद्घटोऽपि नित्यो भवत्विति । स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञा जह्यात् । प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते यदि ब्रूयाद्युक्तं सामान्य-

मैन्द्रियक नित्यम्। तद्धि सर्वगतम्। असर्वगतस्तु शब्द इति। तदिदं शब्देऽनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञात प्रतिज्ञान्तरमसर्वगत शब्द इति निग्रहस्थानम्। अनया दिशा शेषाण्यपि विंशतिर्ज्ञेयानि। इह तु न लिखितानि पूर्वहेतोरेव। इत्येव मायाशब्देनात्रच्छलादित्रय सूचितम्। तदेव परवञ्चनात्मकान्यपि छलजातिनिग्रहस्थानानि तत्त्वरूपतयोपदिशतोऽक्षपादर्षेर्वैराग्यव्यावर्णन तमस प्रकाशात्मकत्वप्रख्यापनमिव कथमिव नोपहसनीयम्। इति काव्यार्थ ॥१०॥

इन २२ निग्रहस्थानोंमेंसे–प्रतिवादी जब हेतुको अनैकान्तिक (व्यभिचारी) सिद्ध करदे तब प्रतिदृष्टान्तके धर्मको अपने दृष्टान्तमें स्वीकार करते हुए वादीके प्रतिज्ञाहानिनामक निग्रहस्थान होता है। जैसे–वादी शब्दमें अनित्यत्वरूप प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिये 'शब्द अनित्य है ऐन्द्रियक (इन्द्रियका विषय) होनेसे घटके समान' ऐसे अनुमानके प्रयोगका कथन करे और इस प्रयोगमें प्रतिवादी सामान्य ऐन्द्रियक है तो भी नित्य देखा गया है, इस प्रकार कहकर ऐन्द्रियकत्वरूपहेतुको व्यभिचारी बना देवे तब वादी जो ऐसा कहे कि, सामान्यके समान घट भी नित्य हो जावे, तो इस प्रकार कहता हुआ वह वादी शब्दमें अनित्यता सिद्ध करनेरूप जो प्रतिज्ञा है, उसको छोड़ देता है अर्थात् सामान्यरूप प्रतिदृष्टान्तके नित्यत्वधर्मको घटरूप दृष्टान्तमें स्वीकार करके शब्दको नित्य मानता हुआ वादी प्रतिज्ञाहानिनामक दोषसे दूषित होता है। १। जब प्रतिवादी अपने (वादीके) प्रतिज्ञा किये हुए अर्थका निषेध करदे तब उसी धर्मीमें दूसरे धर्मको सिद्ध करनेयोग्य कहते हुए अर्थात धर्मीमें उस धर्मके सिवाय किसी दूसरे धर्मको मानते हुए वादीके प्रतिज्ञान्तरनामा दूसरा निग्रहस्थान होता है। जैसे–'शब्द अनित्य है, ऐन्द्रियक होनेसे इस प्रकार वादीके कहने पर प्रतिवादी पहलेके समान ही सामान्यसे अर्थात् सामान्य ऐन्द्रियक है तोभी नित्य है यह कहकर ऐन्द्रियकत्व हेतुको व्यभिचारी करदे तब यदि वादी ऐसा कहै कि,—'सामान्य ऐन्द्रियक होनेसे नित्य है' यह तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु सामान्य तो सर्वगत है और शब्द असर्वगत है, । तो इस प्रकार वादी शब्दमें अनित्यता सिद्ध करनेरूप जो पहले प्रतिज्ञा की थी, उसको छोड़कर उसी शब्दरूप धर्मीमें असर्वगतरूप दूसरी प्रतिज्ञाको कहता हुआ प्रतिज्ञान्तर नामक दूसरे निग्रहस्थानको प्राप्त होता है। इसी प्रकारसे शेष जो वीस २० निग्रहस्थान है उनको भी जान लेने चाहियें। यहा तो पहले ही कारणसे अर्थात् अनुपयोगी होनेसे ही शेष निग्रहस्थानोंको नहीं लिखे है। ऐसे स्तुतिके कर्ता आचार्यमहाराजने काव्यमें स्थित मायाशब्दसे छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थोको सूचित किये हैं। सो इस पूर्वोक्त प्रकारसे दूसरों (वादियों) को ठिगनेरूप छल

जाति और निग्रहस्थानोंका तत्त्वरूपता (पदार्थपने) से उपदेश देतेहुए गोतमऋषीके वैराग्यका वर्णन करना अर्थात् छल आदिके उपदेष्टा गोतमको कारुणिक कहना मानों अंधकारको प्रकाशस्वरूप कहनेके समान है; अतः कैसे उपहासके योग्य न हो। **भावार्थ**—जैसे अंधकारको प्रकाशरूप कहता हुआ पुरुष हास्यका पात्र होता है; उसीप्रकार छल आदिके उपदेष्टा गोतमको कारुणिक कहते हुए नैयायिक भी उपहासके पात्र है। इस प्रकार काव्यका अर्थ है ॥ १० ॥

अधुना मीमांसकंभेदाभिमतं वेदविहितहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिंपुरस्सरं निराकुर्वन्नाह।—

अब एक प्रकारके मीमासक अर्थात् पूर्वमीमांसक और उत्तरमीमांसक (वेदान्ती) इन दो प्रकारके मीमांसकोमेंसे पूर्वमीमासक जो हैं, वे वेदमें कही हुई हिसाको जो धर्मकी कारणभूता मानते है, उसका युक्तिपूर्वक खंडन करते हुए आचार्य इस अग्रिम काव्यका कथन करते हैं—

न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥ ११ ॥

सूत्रभावार्थः—वेदमें कही हुई भी हिंसा धर्मकी कारण नहीं है। और यदि पूर्वमीमांसक कहें कि; वेदोक्त हिंसाकी विधि अपवादमार्गसे है; इसकारण दोषके लिये नहीं है; सो उचित नहीं है। क्योंकि; उत्सर्गवाक्य जो है; वह दूसरे कार्यके लिये प्रयुक्त किये हुए वाक्यसे अपवादका विषय नहीं होता है अर्थात् शास्त्रमें जिस प्रयोजनको अवलम्बनकरके उत्सर्गवाक्य वर्त्तता है; उसी प्रयोजनको ग्रहणकरके अपवादवाक्य भी वर्त्तता है। इस कारण उन मीमांसकोंकी चेष्टा अपने पुत्रको मारकर राजा बननेवाले पुरुषकी चेष्टाके समान है। **भावार्थ**—जैसे कोई अपने पुत्रको मारकर राजा

१. मीमांसका द्विधा—पूर्वमीमांसावादिनः, उत्तरमीमांसावादिनश्च। तेषु पूर्वमीमांसावादिनामभिमतम्। २. युक्तिपूर्वकम्।

नजावे तो भी वह अपने पुत्रको मारनेके कलकसे नही बच सकता है, इसीप्रकार यद्यपि वेदोक्त हिंसाको करके वे मीमासक नीच देवताओंको प्रसन्न करलेते हैं, तथापि वे मीमासक उस हिंसाजनित पापसे रहित नहीं हो सकते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या । इह खल्वर्चिर्मार्गप्रतिपक्षधूममार्गाश्रिता जैमिनीया इत्थमाचक्षते । या हिसा गार्द्ध्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाऽधर्मानुबन्धहेतु । प्रमादसपादितत्वात् । शौनिकलुब्धकादीनामिव । वेदविहिता तु हिसा प्रत्युत धर्म्महेतु । देवतातिथिपितृणा प्रीतिसपादकत्वात् । तथाविधपूजोपचारवत् । न च तत्प्रीतिसम्पादकत्वमसिद्धम् । कारीरीप्रभृतियज्ञाना स्वसाध्ये वृष्ट्यादिफले य खल्वव्यभिचार स तत्प्रीणितदेवताविशेषानुग्रहहेतुक । एव त्रिपुरार्णववर्णितच्छगलजाङ्गलहोमात्परराष्ट्रवशीकृतिरपि तदनुकूलितदैवतप्रसादसपाद्या। अतिथिप्रीतिस्तु मधुपर्क-सस्कारादिसमास्वादजा प्रत्यक्षोपलक्ष्यैव । पितृणामपि तत्तदुपयाचितश्राद्धादिविधानेन प्रीणितात्मना स्वसन्तानवृद्धिविधान साक्षादेव वीक्ष्यते । आगमश्चात्र प्रमाणम् । स च देवप्रीत्यर्थमश्वमेधगोमेधादिविधानाभिधायक प्रतीत एव। अतिथिविषयस्तु 'महोक्ष वा महाज वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्।" इत्यादि । पितृप्रीत्यर्थस्तु "द्वौ मासौ मत्स्यमासेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुर. शाकुनेनेह पञ्च तु । १ । इत्यादि ।

व्याख्यार्थ—यहा पर अर्चिमार्गसे विरुद्ध (प्रतिकूल) धूममार्गके धारक जैमनीय (जैमनिऋषीके शिष्य मीमासक) ऐसा कहते हैं कि, कसाई व शिकारीके समान जो हिसा लोभीपनेसे अथवा व्यसनीपनेसे की जाती है, वही पापके बधकी कारण है। क्योंकि, प्रमादसे की जाती है । और जो वेदोक्त हिंसा है, वह तो पापके बधकी कारण नहीं है किन्तु उल्टी उस प्रकारकी पूजा

१ क जल कृष्णतीति कारो मयस्तमीरयतीतिकारीरी इति व्युत्पत्ते कारीरीनामा वृष्टिकारको यज्ञविशेष । २ त्रिपुरार्णवो ग्रन्थविशेष । ३ दधा तु म धु सयुक्त मधुपर्कम् । ४ अश्वो मेध्यत्त हिस्यते यत्रेत्यश्वमेधो यज्ञविशेष । एवम ग्रत्रापि । ५ प्राघूर्णिकश्रोत्रियाय । ६ षण्मासांश्छाग मासेन पार्षतेन हि सप्त वै । अष्टावेणस्य मासेन रौरवेण नवैव तु । २ । दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषै । शशकूर्मस्य मांसेन मासानेकादशैव तु । ३ । सवत्सर तु गव्येन पयसा पायसेन वा । वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी । ४ । इति पूर्णपाठ ।

सेवाके समान धर्मकी कारण है। क्योंकि देवता अतिथि और पितृजनोंके प्रीतिको उत्पन्न करती है। **भावार्थ**—जैसे वेदोक्त पूजासेवाके करनेसे देवतादि प्रसन्न होते है, उसी प्रकार इस वेदोक्त हिसासे भी देवतादि प्रसन्न होते है अतः यह वेदोक्तहिसा धर्मबंधकी कारण है। और वेदोक्त हिसासे देवतादिके प्रीति उत्पन्न नहीं होती है; ऐसा न कहना चाहिये अर्थात् वेदोक्तहिंसासे देवतादि प्रसन्न होते ही है। क्योकि; कारीरीनामक यज्ञको आदि ले जो यज्ञ है; उनके अपने द्वारा सिद्ध करने योग्य वृष्टिआदि फलमे जो अव्यभिचारित्व (सफलता) है, वह उन यज्ञोंसे प्रसन्न किये हुए देवोंके अनुग्रहरूप हेतुवाला ही है अर्थात् कारीरी-आदि यज्ञोंके करनेसे जो वृष्टि (वर्षा) आदि फलोंकी प्राप्ति होती है, वह उन यज्ञोंद्वारा प्रसन्न किये हुए देवोंकी कृपासे ही होती है। इसी प्रकार त्रिपुरार्णवनामक एक प्रकारके ग्रन्थमें कहे हुए बकरे तथा जांगल (बनके पशु) के होमसे दूसरेके राज्यको वशमें करना है; वह भी उस होमसे अनुकूल किये हुए देवताओंके प्रसादसे ही सिद्ध होता है। और मधुपर्कपूजामें दही, और सहत आदिके भक्षणसे उत्पन्न हुई अतिथिप्रीति (पाहुणेकी प्रसन्नता) तो प्रत्यक्षमें ही देखनेमें आती है। तथा उन २ उपयाचना किये हुए श्राद्ध आदिके करनेसे प्रसन्न हो गया है आत्मा जिनका ऐसे अर्थात् जो २ पितर जिस २ श्राद्धकी याचना करें; उस २ श्राद्धके करनेसे प्रसन्न हुए वे पितर अपने सतानकी वृद्धि करते है अर्थात् श्राद्धकर्त्ताके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि उत्पन्न करते है, यह भी प्रत्यक्षमें देखा जाता है। और आगम भी इस विषयमें प्रमाण है। वह निम्न लिखित प्रकारसे है। देवोंकी प्रीतिके लिये अश्वमेधयज्ञ (जिसमें घोड़ा मारा जावे ऐसे यज्ञ,) को तथा गोमेधयज्ञ आदिको कहनेवाला आगम प्रसिद्ध ही है। " आये हुए श्रोत्रिय (वेदपाठी) के लिये बड़े बैलको अथवा बडे बकरेको प्रकल्पन करे अर्थात् मारे। " इत्यादि आगम अतिथि (पाहुणे) की प्रीतिके लिये हिसा करनेका उपदेश देता ही है। तथा पितरोंकी प्रीतिके लिये "मत्स्य (मांछले) के मांससे दो महिने तक, हिरणके मांससे तीन महिने तक मेष (मीढे) के मांससे चार महिने तक और शाकुन (पक्षिविशेष) के माससे पाच महिनेतक पितृजन तृप्त रहते है अर्थात् यदि उक्त जीवोंके मांससे श्राद्ध किया जावे तो पितृजन उक्त समयपर्यन्त किसी पदार्थको खानेकी इच्छा नहीं करते है। १। " इत्यादि कथन करनेवाला आगम है।

एवं पराभिप्रायं हृदि संप्रधार्याचार्यः प्रतिविधत्ते। न धर्मेत्यादि। विहितापि वेदप्रतिपादितापि आस्तां तावदविहिता हिंसा प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा न धर्महेतुर्न धर्मानुबन्धनिबन्धनम्। यतोऽत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः।

तथाहि—'हिंसा चेद्धर्महेतुः कथम्' 'धर्महेतुश्चेद्धिंसा कथम्' "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।" इत्यादि। न हि भवति माता च वन्ध्या चेति। हिंसा कारणं, धर्मस्तु तत्कार्यमिति पराभिप्रायः। नचायं निरपायः। यतो यद्यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत्तस्य कार्यम्। यथा मृत्पिण्डादेर्घटादि। न च धर्मो हिंसात एव भवतीति प्रातीतिकम्। तपोविधानदानध्यानादीनां तदकारणत्वप्रसङ्गात्।

इस प्रकार उन पूर्वमीमांसकोंके आशयको हृदयमें धारण करके स्तुतिके कर्त्ता आचार्यमहाराज 'न धर्म' इत्यादि श्लोकसे उनके मतका खंडन करते हैं, वह इसप्रकार है।—"विहिता अपि" वेदमें कही हुई भी अर्थात् वेदमें न कही हुई हिंसा तो दूर रहो वेदोक्त भी जीवोंके प्राणोंका त्याग करानेरूप हिंसा। "धर्महेतुः" धर्मका कारण "न" नहीं है। क्योंकि, इस वेदोक्त हिंसाको धर्मकी कारण माननेमें उन वादियोंके अपने वचनसे विरोध प्रकट ही है। सो ही दिखाते हैं—यदि हिंसा है तो धर्मकी कारण कैसे है? और धर्मकी कारण है तो हिंसा कैसे है? अर्थात् जो हिंसा है वह धर्मकी कारण नहीं है, जो धर्मका कारण है, वह हिंसारूप नहीं है। क्योंकि—"तुम धर्मके सर्वस्व (सारभूत रहस्य) को श्रवण करो और श्रवणकरके हृदयमें धारण करो, वह धर्मका रहस्य यह है कि, अपने प्रतिकूल दूसरोंके मत करो अर्थात् जो तुमको बुरा लगे, वह कार्य तुम दूसरोंके लिये भी मत करो।१।" इत्यादि आगम हिंसाको पापकी कारण कहता है। और माता है तथा वन्ध्या (बांझ) है, ऐसा नहीं होता है भावार्थ—जैसे कोई किसी स्त्रीको माता भी कहे और वन्ध्या भी कहे तो इसमें उसको अपने वचनसे विरोध आता है। क्योंकि, जो माता हो, वह वन्ध्या नहीं हो सकती है और जो वन्ध्या हो वह माता नहीं हो सकती है, इसी प्रकार जीवोंके प्राणोंका त्याग करानेरूप हिंसाको पाप तथा धर्म, इन दोनोंकी कारण कहते हुए उन वादियोंके भी अपने वचनसे विरोध आता है। यहां पर उन वादियोंका यह अभिप्राय है कि—हिंसा तो कारण है और धर्म उस हिंसाका कार्य (फल) है सो यह निरपाय अर्थात् दोषरहित नहीं है। क्योंकि, जो जिसका अन्वय (सत्त्व) होनेपर अपने अन्वयको करता है और व्यतिरेक होनेपर अपने व्यतिरेकको करता है, वही उसका कार्य होता है। जैसे कि, मृत्पिंड आदिका अन्वय तथा व्यतिरेक होनेपर घट आदि अपना अन्वय और व्यतिरेक करते हैं। भावार्थ—जैसे घट मृत्पिंडके सत्त्वमें अपने सत्त्वको और मृत्पिंडके अभावमें अपने अभावको करता है, अतः घट मृत्पिंडरूप

१ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। १। इत्युत्तरार्द्धं।

कारणका कार्य है, उसी प्रकार यदि धर्म हिंसाके सत्त्वमें अपने सत्त्वको तथा हिंसाके अभावमें अपने अभावको करे तो धर्म हिंसारूप कारणका कार्य हो सकता है। और धर्म हिंसासे ही होता है, यह प्रतीतिका विषय नहीं है। क्योंकि यदि तुम हिंसासे ही धर्मका होना मानोंगे तो तपका करना, दानका देना, ध्यानका साधना; इत्यादि जो है, उनके धर्मकी अकारणताका प्रसंग हो जावेगा अर्थात् तपश्चरण आदि धर्मके कारण न रहेंगे और यह तुमको अनिष्ट है।

अथ न वयं सामान्येन हिंसां धर्महेतुं ब्रूमः किंतु विशिष्टामेव। विशिष्टा च सैव या वेदविहिता इति चेत्— ननु तस्या धर्महेतुत्वं किं वध्यजीवानां मरणाऽभावेन मरणेऽपि तेषामार्त्तध्यानाऽभावात्सुगतिलाभेन वा। नाद्यः पक्षः। प्राणत्यागस्य तेषां साक्षादवेक्ष्यमाणत्वात्। न द्वितीयः। परचेतोवृत्तीनां दुर्लक्षतयाऽऽर्त्तध्यानाऽभावस्य वाङ्मात्रत्वात्। प्रत्युत हा कष्टमस्ति। न कोऽपि कारुणिकः शरणम्। इति स्वभापया विरसमारसत्सु तेषु वदन-दैन्यनयनतरलतादीनां लिङ्गानां दर्शनात् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात्।

यदि कहोकि—हम सामान्यपनेसे हिंसाको धर्मकी कारण नहीं कहते हैं अर्थात् जो हिंसा है, उस सभीको धर्मकी कारण नहीं मानते हैं; किन्तु विशिष्ट (उन हिंसाओंमेसे एक प्रकारकी) हिंसाको धर्मकी कारण कहते हैं। और विशिष्ट हिंसा वही है; जो कि—वेदमें कही हुई है अर्थात् हम वेदोक्त हिंसाको ही धर्मकी कारण मानते है, तो हम प्रश्न करते है कि; वह वेदोक्त हिंसा क्या वध्य (मारने योग्य) जीवोंका मरण न होनेसे अर्थात् जिन जीवोंको यज्ञ आदिमें मारे जाते है, उनका मरण नहीं होता है जिससे धर्मकी कारण है ? अथवा वे वध्यजीव मरते है; तो भी उनके आर्त्तध्यान न होनेसे सुगति (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है जिससे धर्मकी कारण है। यदि कहो कि—वेदोक्तविधिसे मारनेपर उन वध्यजीवोंका मरण नहीं होता है, सो यह ठीक नहीं है। क्योंकि उन वध्यजीवोंके प्राणोंका त्याग साक्षात् (प्रत्यक्षमें) ही देखते है। यदि कहो कि, मरणसमयमें आर्त्तध्यानके न होनेसे वे वध्यजीव सुगतिको प्राप्त होते है; तो यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि, दूसरोंकी चित्तवृत्तियें कठिनतासे देखने योग्य है। **भावार्थ**—दूसरे जीव अपने मनमें भला वा बुरा कैसा विचार कर रहे हैं; इस विषयका ज्ञान सुगम रीतिसे ही नहीं हो सकता है; जिससे यह जानलिया जावे कि; उन वध्यजीवोंके मरण समयमें आर्त्तध्यान नहीं होता है। किन्तु उलटा हा! बड़ा दु:ख हो रहा है हमारे कोई भी करुणावान शरण ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। अर्थात् हमको इस महादु:खसे बचानेवाला कोईभी नहीं है।

इस प्रकार अपनी भाषा (बोली) से विरस (कानोंको बुरा लगने वाली) पुकार करते हुए उन वध्यजीवोंमें मुखकी दीनता तथा नेत्रोंकी चचलता आदि चिह्नोंके देखनेसे आर्त्तध्यान स्पष्टरीतिसे (संदेहरहितपनेसे) ही निश्चित होता है।

अथेत्थमाचक्षीथा । यथा अय पिण्डो गुरुतया मज्जनात्मकोऽपि तनुतरपत्रादिकरणेन सस्कृत सन् जलोपरि प्लवते। यथा वा दहनस्वभावोऽप्यग्नि सत्यादिप्रभावप्रतिहतशक्ति सन्नहि दहति। एव मन्त्रादिविधिसस्काराम्न खलु वेदविहिता हिसा दोषपोषाय। न च तस्या कुत्सितत्व शङ्कनीयम्। तत्कारिणा याज्ञिकाना लोके पूज्यत्वदर्शनादिति। तदेतन्न दक्षाणा क्षमते क्षोदम् । वैषम्येण दृष्टान्तानामसाधकतमत्वात्। अय पिण्डादयो हि पत्रादिभावान्तरापन्ना सन्त सलिलतरणादिक्रियासमर्था । नच वैदिकमन्त्रसस्कारविधिनापि विशस्यमानाना[1] पशूना काचिद्वेदनानुत्पादादिरूपा भावान्तरापत्ति प्रतीयते। अथ तेषा वधानन्तर देवत्वापत्तिर्भावान्तरमस्त्येवेतिचेत्--किमत्र प्रमाणम्। न तावत्प्रत्यक्षम्। तस्य सबद्धवर्त्तमानार्थग्राहकत्वात्। " सम्बद्ध वर्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना " इति वचनात्। नाप्यनुमानम् । तत्प्रतिबद्धलिङ्गानुपलब्धे । नाप्यागम । तस्याद्यापि विवादास्पदत्वात्। अर्थापत्त्युपमानयोस्त्वनुमानान्तर्गततया तद्दूषणेनैव गतार्थत्वात्।

अब यदि तुम ऐसा कहो कि, जैसे लोहका पिंड अपने भारीपनसे जलमें डूबनेरूप स्वभावका धारक है, तो भी यदि उस लोहपिंडको अत्यन्त हलके २ पत्र (पत्तर) आदि बनाकर संस्कारको प्राप्त कर लिया जावे, तो वह जलके ऊपर तेरने लग जाता है, और जैसे विष (जहर) मारनेरूप स्वभावका धारक है, तो भी यदि उस विषको मत्रआदिसे संस्कृत करलिया जावे तो, वही मारणात्मक विष उत्तमगुणके लिये हो जाता है अर्थात् रसायनरूप होकर शरीरकी रक्षा करनेवाला होजाता है, अथवा जैसे अग्नि दहन करने (जलाने)रूप स्वभावको धारण करती है, तो भी सत्य आदिके प्रभावसे अपनी दहनशक्तिसे रहित होकर नही जलाती है अर्थात् कोई सत्यवादी व ब्रह्मचारी मनुष्य लोकको अपनी निर्दोषता दिखलानेके लिये अग्निमें धीज लेवे तो उसके सत्य आदिके प्रभावसे वह अग्नि उस पुरुषको नहीं जलाती है, इसीप्रकार मत्र आदिकी विधिसे संस्कारको प्राप्त हुई वेदोक्तहिंसा भी दोषकी पुष्टिके लिये नहीं है अर्थात् पापबधकी कारण नहीं है किन्तु धर्मकी ही कारण है। तथा वह वेदोक्तहिंसा निंदनीय

---

1 हिंस्यमानानां।

है; ऐसी शंका भी न करनी चाहिये । क्योंकि; उस वेदोक्तहिंसाके करनेवाले याज्ञिक (यज्ञ करनेवाले) जन लोकमें पूज्य देखे जाते हैं । भावार्थ—वेदोक्तहिंसाके कर्त्ता याज्ञिकजनोंको लोक पूजते है; अतः वेदोक्तहिंसा जगतमें निन्दनीय भी नहीं है । सो तुम्हारा यह कथन भी चतुर पुरुषोंके विचारको नहीं सहता है अर्थात् युक्तिरहित ही है । क्योंकि; तुमने जो लोहपिंड आदिके दृष्टान्त दिये है; वे विषमरूप होनेसे असाधकतम हैं अर्थात् वेदोक्त विधिसे जीवोंको मारनेरूप दार्ष्टान्तिकमें बराबर न घटनेसे वेदोक्त हिंसाको निर्दोष सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हैं । कारण कि, लोहके पिंड आदि जो है; वे पत्र (पत्तर) आदिरूप दूसरे भावों (अवस्थाओं वा पर्यायों) को प्राप्त होकर जलमें तिरने आदिरूप क्रियाके करनेमें समर्थ होते है। और वेदोक्तमंत्रोंसे संस्कारकरनेरूप विधिसे भी मारे जाते हुए उन पशुओंके वेदना (पीड़ा) आदिके उत्पन्न न होनेरूप किसी दूसरे भावकी उत्पत्ति प्रतीत नहीं होती है अर्थात् वेदोक्त विधिसे मारे जाते हुए भी वे पशु मरते समयमें वेदनाको ही भोगते हुए देखे जाते है । यदि कहो कि, मारनेके पश्चात् वे जीव देवपनेको प्राप्त हो जाते है यह भावान्तर है ही अर्थात् वे पशु मरकर देव हो जाते है यह एक अवस्थाका पलटना है ही है; तो हम प्रश्न करते है कि; इस कथनमें क्या प्रमाण है अर्थात् तुम जो कहते हो कि, वेदोक्तहिंसासे पशु मरकर देव हो जाते हैं; सो कौनसे प्रमाणसे कहते हो । यदि कहो कि; इस कथनमें प्रत्यक्ष प्रमाण है सो तो नहीं हो सकता है । क्योंकि " चक्षु आदि इन्द्रियें अपनेसे संबंधको प्राप्त हुए तथा वर्त्तमान ऐसे पदार्थका ग्रहण करती है । " इस वचनसे वह प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे संबधित वर्त्तमान पदार्थको ही ग्रहण करता है । और इस कथनमें अनुमान प्रमाण भी नहीं हो सकता है। क्योंकि; उस देवपनेकी प्राप्तिरूप भावांतरसे संबंधित जो लिंग (साधन) है; वह जाननेमें नहीं आता है। और आगम प्रमाण भी इस कथनको सिद्ध करनेवाला नहीं है ।क्योंकि; वह अबतक भी विवादका स्थान है अर्थात् उसकी सत्यतामें अभीतक संदेह है । तथा अर्थापत्ति और उपमान ये दो प्रमाण तो अनुमान प्रमाणमें ही अन्तर्गत होते हैं अर्थात् अनुमानके ही भेद है; इसकारण अनुमानप्रमाणमें जो साधनकी अप्राप्तिरूप दूषण दिया है; उसीसे गतार्थ है अर्थात् उसी दोषके धारक हैं ।

अथ भवतामपि जिनायतनादिविधाने परिणामविशेषात्पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्प्यत इति कल्पना । तथा अस्माकमपि किं नेष्यते । वेदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्पं तत्रापि भावात् । नैवम् । परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलो यत्राऽनन्योपायत्वेन यतनयाऽपकृष्टप्रतनुचैतन्यानां पृथि-